हिन्दी के यशस्वी कवि

हरिवंशराय "बच्चन"

को

सादर

समर्पित

मैं इस संकलन के प्राक्कथन के रूप में कुछ लिखने से पहले, इस सम्बन्ध में इतना तो कहना ही चाहूँगा कि जिस भाव से प्रेरणा पाकर संकलन-कर्ता मेरे पास आये हैं, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञ होना मेरा कर्तव्य है। कारण, यह मेरे प्रति केवल आदर-भाव से ही प्रेरित होकर तो मेरे पास आए हैं, मुझे ऐसा लगता है। अन्यथा संकलन के सम्बन्ध में बिना कुछ करे धरे ही मुझे प्राक्कथन लिखने का दायित्व और अधिकार क्यों कर सौंपा जाता ?

इस अवसर से लाभ उठाकर मैं अपने मन के भावों को भी प्रकट करना चाहूँ, तो अजब न होगा। बहुधा यह सुनाई देता है कि नये कवियों के प्रति उनके पूर्ववर्तियों के हृदय में सद्भावना और सौहार्द का अभाव है। और कदाचित इसी कारण दूसरी ओर से यह भी कहा सुना जाता है कि अपने अग्रजों के प्रति नई पीढ़ी के साहित्यकों के मन में भी आदर-भाव का अभाव है। नए पुराने के बीच ऐसी भ्रमपूर्ण धारणाओं का कारण यह है कि आज इन दोनों को निकट लाने वाले सम्पर्क और आदान प्रदान का अभाव है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में एक यही व्यवधान हो सो बात नहीं। घर बाहर नगर ग्राम और लेखक —पाठक के बीच भी खाइयों को पाटना तभी सम्भव हो सकता है जब नए और पुराने साहित्यकों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क और आदान-प्रदान हो, जब दोनों ही सद्भावना और सहयोग के मधुर बंधन में बंध जाय। इस दिशा की ओर इंगित करके प्रस्तुत संकलन ने अपने अस्तित्व को उपयोगी सिद्ध किया है।

हिमावत से उज्जैन और कुरुक्षेत्र से तिरहुत तक फैला हुआ हमारा हिन्दी भाषी क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत है कि हमें अपनी विविध साहित्यक गति-विधियों प्रवृत्तियों और शैलियों का (अधिक से अधिक) आभास मात्र ही मिल सकता है। इसलिए इस सुसम्पादित सामायिक संकलनों का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि उनके द्वारा हमें, अंश अंश करके, पूर्ण का ज्ञान हो जाता है।

मैं प्रस्तुत संकलन का स्वागत करता हूं। मेरे इन उत्साही और उद्योगी तरुण सहयोगियों का अभिनन्दन है।

४, साउथ एवेन्यू,
नई दिल्ली।

नरेन्द्र शर्मा

गोपालकृष्ण कौल

नई पीढ़ी और नई कविता

नई उम्र के कवियों को नई पीढी में मान लेना जितना सरल है उतना ही कठिन भी है, क्योकि साहित्य में कमसिन लेखको की जमात को केवल उनकी कम उम्र की वजह से नई पीढी नही कहा जा सकता। बुजुर्ग लेखक भी साहित्य की परम्परा में नई पीढी के अगुआ बन सकते हैं और बने भी हैं। न ही अतीत में पैदा होने से हर लेखक क्लासिक हो जाता है और न ही वर्तमान में जन्म लेने से हर लेखक नया बन सकता है। लेखक की अपनी उम्र साहित्य की परम्परा में नई-पुरानी पीढी के चलने या बदलने, जन्म लेने या समाप्त होने का प्रमाण नही है। साहित्य में पीढियाँ कृतित्व की उम्र के हिसाब से बनती और मिटती है। लेखक की उम्र से ज्यादा उसके कृतित्व की उम्र महत्वपूर्ण होती है। कृतित्व के अनुसार जब साहित्य में एक परम्परा अपनी पर्याप्तता प्रसिद्ध कर देती है जब उसके स्थान पर दूसरी परम्परा आ खडी होती है। नई परम्परा के बीज पुरानी परम्परा की अपर्याप्तता में ही पनपते हैं। परम्पराओं के सूत्र इसी रूप में कही न कही आपस में जुड जाते हैं। साहित्य में परम्पराओ के आन्तरिक और वाह्य परिवर्तन नई-पीढी को पैदा करते हैं। ये परिवर्तन केवल ऐतिहासिक परिस्थितियो के बदलने का प्रतिबिम्ब मात्र नही होते; बल्कि जीवन और जगत के विविध सश्लिष्ट सम्बन्धो की गतिशील पारस्परिक प्रतिक्रियाओं और गहरे प्रभावो के परिणाम स्वरूप प्रतिफलित होते हैं।

इसलिए नई उम्र के सभी कवि कविता में नई पीढी की परम्परा में अपना स्थान नही बना पाते हैं क्योकि केवल नई उम्र न ही तो नई चेतना का प्रमाण है और न ही कला और जीवन की जटिल परिस्थितियों की नई माँग को समझ पाने की शर्त। हिन्दी में नई उम्र के अनेक कवि कविता के रूढ रूप-विधान को शाश्वत मानकर विवेक-हीन और जीवन बोध से शून्य भावुकता के मायाजाल से अभी तक अपने को मुक्त नही कर पाये है। उनकी कोरी भावुकता उनकी कविता को 'बाक्स आफिस हिट' के आम बाजारू फिल्मों या फिल्मी गीतो की तरह सरल और सस्ते मनोरंजन की वस्तु बना देती है। और वे इस प्रकार की लोकप्रियता को सफलता मान कर

अपने भाव विचार की तमाम सम्भावनाओं को कुंठित कर लेते हैं। कोरी भावुकता उस परिवर्तित जीवन सत्य को अनुभव और अभिव्यक्त नहीं कर सकती, जिसकी अदम्य आवश्यकता ने कला की पिछली पीढ़ी की क्षमता को अपर्याप्त सिद्ध कर दिया है। गीत नामक रचनायें कुछ गिने चुने रोमांचक भावों में भी किसी एक को कई प्रकार चित्रों में उपस्थित करने का आवृत्ति-परक ढंग नई उम्र के कवियों में सरलता से प्रचलित हो गया है। वे इस सीमित परिधि में ही चक्कर काटने में अपनी सार्थकता समझते हैं। उनके गीतों का मीटर लाइट म्यूजिक की धुनों पर खड़ा होता है ताकि वे उसको किसी-न-किसी तरन्नुम में गा सकें और यह सिद्ध कर सकें कि उनका गीत गेय है। लेकिन क्या भावुक तुकान्त पद्य 'लाइट म्यूजिक' की गेयता पाकर गीत-काव्य बन सकता है? क्या आवृत्ति-परक ढंग एक गीत को एक कविता बनाने की क्षमता रखता है? क्या इन गीतों का संगीत अपन स्वर संकेतों से भाव-संकेत भी पैदा करता है? क्या ये गीत 'निराला' के काव्य-संगीत की परम्परा के उत्तराधिकारी हैं? इस विषय में 'निराला' के गीत बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनके लिए शिक्षाप्रद हैं, जो भावुक तुकान्त पद्य के आवृत्ति परक प्रकार को गीत समझ बैठे हैं।

दूसरी ओर काव्य-संगीत विशेषत संगीत को अधिक महत्त्व देने वाले कवि हिन्दी-भाषा में ही संगीतात्मक क्षमता का अभाव मानकर बंगाली की ओर देखने लगे हैं। हिन्दी का व्याकरण ही उन्हें संगीत-विरोधी लगता है और इसलिए वे जनपदीय बोलियों और अन्य प्रान्तीय भाषाओं की संगीत परक विशेषताओं को लाने के लिए अपनी भाषा को ही विकृत करने को तैयार हैं। वे यह नहीं देखते कि समान-कारक चिन्ह होते हुए भी उर्दू-काव्य में संगीतात्मकता क्यों पैदा हुई, जब कि उर्दू और हिन्दी एक ही खड़ी बोली का विकसित रूप हैं? प्रत्येक भाषा का शब्द-संगीत अलग होता है, यह संगीत भाषा में व्यवहार-परम्परा के माध्यम से लोक-मानस के भावों की स्वर-अर्थमयी सतत पड़ने वाली प्रतिछवियों से पैदा होता रहता काव्य में भाषा-संगीत के इस निचोड़ को प्रतिष्ठित करके ही गीत काव्य को नए जीवन-सत्य का वाहक बनाया जा सकता है। गीतकारों को, संगीत को कोरी भावुकता से मुक्त करने के लिए एक ओर शब्दों के स्वर अर्थमय संगीत को भाषा के संगीत से ग्रहण करना होगा और दूसरी ओर नए-जीवन-सत्य को मुखरित करने की उसकी अपर्याप्तता को भी समझना पड़ेगा।

इस तरह के गीतों की अपर्याप्तता का भाव मुक्त-छन्द के आग्रह का एक प्रबल कारण बन गया। मुक्त-छन्द का आधार भाव का वेग ही है। प्रजातन्त्र के मुक्त भाव ने वाल्ट ह्विटमैन को ओजस्वी निर्भीक विचारों के लिए मुक्त-छन्द के पथ पर डाला

था। दूसरी ओर मुक्त-छन्द को अस्वस्थ व मानसिकता के जटिल उद्गारों की छाया में प्रतीकवादी और अतियथार्थवादी कवि-कलाकारों ने अराजक रूप से विकसित करने का प्रयत्न किया। भविष्यवादी मायकोवस्की की मुक्त-भावना की व्यंगोक्तियों को मुक्त-छन्द के माध्यम से ही प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली। बंगाली में रवीन्द्रनाथ ने और हिन्दी में 'निराला' ने मुक्त-छन्द की रचना की परम्परा को आगे बढ़ाया। 'निराला' ने अपनी छन्द-रचना के आधार वैदिक छन्दों तक में खोज निकाले थे। निराला ने स्वर-संकेतों से मुक्त छन्द में आरोह-अवरोह और प्रवाह पैदा करने का साहसिक सफल प्रयास किया। आज हिन्दी में अनेक दूसरे नये कवि भी मुक्त छन्द के प्रयोग से नये जीवन सत्यों को काव्य-रचना में मुखरित करने का प्रयास कर रहे हैं। मुक्त-छन्द रचना से सबसे बडी बात यह हुई कि भाषा की सगीतात्मक विशेषता को नजदीक से समझा गया और गद्य की भी काव्य के अनुकूल बल्कि अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयोगी और कलात्मक बना दिया गया। मुक्त छन्द अपनी अराजकता की अवस्था को पार कर चुका है और अब वह स्वय एक सन्तुलित लय और सगठित प्रवाह के अन्तर्गत विकसित हो रहा है और आज मुक्त-छन्द रचना का अर्थ छन्दहीन रचना कदापि नही है; बल्कि नये छन्दों के निर्माण के लिए मुक्त-छन्द ने कवियों का पथ प्रशस्त कर दिया है। इसके विपरीत, मुक्त होने के कारण मुक्त छन्द की सीमाओं को समझना कठिन भी है, और विशेषतः पुराने छन्दों से इस छन्द का लय सतुलन ज्यादा जटिल है। परिणाम यह है कि जो नये कवि इसे सरल समझ कर कोरा गद्य लिख देते है। वे मुक्त छन्द को बदनाम करते हैं। असबद्ध भाव चित्रों को छोटे-बडे वाक्यों के टुकडों में सकलित कर देने मात्र से मुक्त-छन्द मुक्त-छन्द नही बन जाता। केवल एक प्रकार नही है। गहरी अनुभूति, सजग दृष्टिकोण और तीव्र जीवन बोध जिस भावोद्गार के वेग को बौद्धिक सँतुलन के साथ जो एक मुक्त-लय-मय रूप प्रदान करते हैं वह मुक्त छन्द का सहज रूप है। अभिव्यक्ति-प्रकार के अराजक रूप को, जो मुक्त छन्द या किसी भी छन्द-विधान में प्रश्रय देते है उन पर दुरुहता और कृत्रिमता का आरोप लगाया जाना स्वाभाविक है।

इन प्रकार-भेदों से ऊपर प्रमुख समस्या आज के कवि के सामने यह है कि उसकी अनुभूति की सीमा में जीवन- जगत की जटिल परिस्थितियों का वह यथार्थ कैसे समाए; जो उसकी कला-वाणी में ध्वनित होकर लोक-मानस को झनझनाने में सहज समर्थ हो? वह कैसे असाधारण अनुभूति को साधारण अर्थात् प्रेषणीय कलात्मक बना सके? विशेषतः हिन्दी के नये कवियों के सामने यह एक चेतावनी-भरा प्रश्न है। क्योंकि छायावादी कविता का युग समाप्त हो गया है, स्वयं छायावादी कवियों की शैली एव सीमा पर आकर अपना चमत्कार खो बैठी है। और यह भी

सत्य है कि छायावादी कविता हिन्दी की श्रेष्ठ कविता रही है और आधुनिक हिन्दी-कविता के अग्रदूत छायावादी ही है, फिर भी यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य-शैली अब नया चमत्कार दिखाने में असमर्थ है। इस शैली की भाषा ने ही स्वयं इसको आगे बढ़ने से अब रोक दिया है और नये कवियों की भाषा एक नया रूप अख्तियार कर रही है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों, समास-पूर्ण पदों, अन्वय से समझ में आने वाली वाक्यावलियों की अधिकता को उतना स्थान नहीं रह गया है जितना छायावादी कविता में था। स्वयं 'निराला' जैसे छायावादी कवि ने नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए 'नये पत्ते' की रचनाओं में छायावादी भाषा के मोह को तोड़ दिया है, इसी तरह पन्त के 'पल्लव' और 'ग्राम्या' की भाषा में अन्तर है।

छायावाद के इस ह्रास के बाद महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना का दूसरा नया रूप अभी हिन्दी में स्पष्ट नहीं हो पाया है। प्रत्येक नया कवि, जो सजग और विवेकशील है और साथ ही कला के सामाजिक दायित्व को महसूस करता है साधारणीकरण की समस्या से चिन्तित है। इस समस्या को सुलझाने के निमित्त वह विदेशी कवियों से परामर्श करने के लिए भी मानसिक साहित्य-यात्राएँ करता है और दूर के चमत्कारों से प्रभावित होकर हिन्दी में नया चमत्कार करना चाहता है। वह एज़रा पाउण्ड के पास जाता है और टी० सी० इलियट से सलाह माँगता है। कुछ कान में गुरु-मंत्र भी लेने पहुँच जाते हैं। किन्तु बावजूद अपनी कला सिद्धियों के ये दूर देश के कवि हिन्दी कविता पर सीधा प्रभाव नहीं डालते हैं और जिस ढंग की कविता प्रथम महा-युद्ध के बाद अशान्ति और शंका के विश्वासहीन भाव से इन कवियों ने लिखी थी वह पूर्ववर्ती शैलियों की कई विशेषताओं से अनुप्राणित थी और उसकी क्लिष्ट-बोधता भी गुण मानी गई। टी० सी० इलियट का 'दी वेस्ट लैण्ड' सन् १९२२ में युद्धोत्तर कविता के प्रतिनिधि रूप में प्रकाशित हुआ था। इलियट अपनी कविता में रईसों के सिंहासन पर बैठकर इन्सानियत को देखने का प्रयास करता है, वह वस्तुन्मुखी होकर भी अन्त में दान, दयनीयता और नियन्त्रण की वकालत करता है। विकृत छवि चित्रों को नए प्रतीकों के माध्यम से उपस्थित करने में ही इन कवियों ने अपनी विशेषता दिखाई और समाज में नए जीवन की सम्भावनाओं पर पर्दा डालने की एक प्रकार से कोशिश की है। वे भी एक प्रकार से भविष्य और नई सम्भावना की ओर संकेत करते हैं, लेकिन उसका अनुमान जीवन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के व्यापक यथार्थ पर आधारित न होकर भय और आशंका के आधार पर खड़ा किया गया है।

नई हिन्दी कविता के लिए इन दूर देश के कवियों के कृतित्व से कुछ सीखने

को भले ही मिल जाय लेकिन हिन्दी कविता का नेतृत्व उनका कृतित्व कदापि नही कर सकता, और दूर देश के कवियो के तद्देशीय प्रयोगो को हिन्द कविता की परम्परा और परिस्थितियों में सुधार के नुस्खे की तरह नही इस्तेमाल किया जा सकता। क्योंकि हिन्दी कविता की नई पीढ़ी की परिस्थितियाँ, समस्याएँ और सम्भावनाएँ भिन्न हैं। आज भारतीय जीवन, जिन ऐतिहासिक परिस्थितियो में से गुजर रहा है, बहुत कुछ समान होते हुए भी—उनकी वैसी ही प्रतिक्रिया यहाँ के जन-मानस और जीवनजगत पर नही होती है जैसे पाश्चात्य देशो में होती है। युद्ध, और शान्ति, शोषण और अत्याचार की प्रतिक्रिया पूर्व और पश्चिम में एक-सी नही हो रही है, यह स्पष्ट है। इसलिए कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी जीवन-बोध, और विश्व-बोध की सीमाएँ भी बदल गई हैं। भारतीय जीवन में बावजूद आर्थिक शोषण-जन्य मानसिक पतन के एक विशेष प्रकार की नैतिक उदात्त मानवीय भावना गूँजती रहती है, जो साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, और अब तमाम वादो का, जो मनुष्य के विकास की सम्भावनाओं को रुद्ध करते हैं, किसी न किसी रूप में विरोध करती है। इस उदात्त नैतिक जीवन स्वर की चेतना केवल रुग्ण समाज के मानस-चित्रो की विकृत आकृतियां खीचने में नही दिखाई दे सकती है। उसके लिए नये कवि को, अपने देश, अपनी परिस्थिति, अपनी ज़मीन पर खडे होकर विश्वमार्ग के जीवन को समझना पडेगा—यह रास्ता कृतिकार का रास्ता है और दूसरा रास्ता अनुकृतिकार का रास्ता है।

आज केवल 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के आधार पर अपने को नया कवि मानने के लिए दल बन्द साहित्यिक प्रयत्नो का जो सूत्रपात नई कविता के नाम पर हुआ है, उससे बचकर ही नई कविता अपने विकास की सम्भावनाओ के मार्ग पर आगे बढ सकती है। साधारण जीवन से असाधारण यथार्थ का चुनाव, उसको फिर नए सजीव सार्थकप्रतीको के माध्यम से जन-मानस तक पहुँचाने के साधारणीकरण के कलात्मक प्रयास में ईमानदारी से लगकर ही नए कवि नई कविता को नये युग सत्य का सन्देशवाहक बना सकते हैं। इसके विपरीत कविता को किन्ही संकीर्ण सीमाओ में कैद करके रीतिकालीन प्रवृत्ति का नया संस्करण प्रस्तुत करना कविता में नयापन नही पैदा कर सकता है। हिन्दी कविता के नयेपन को सजाने सँवारने, और सजीव बनाए रखने का उत्तरदायित्व उन सभी नए कवियो पर है, जो कला और जीवन के प्रति जागरूक दृष्टिकोण रखते हैं और ईमानदारी से कला-साधना के पथ पर अग्रसर है, फिर चाहे वे मुक्त-छन्द में अपने को प्रगट कर सकें चाहे गीतो की तान में। लेकिन इतना जरूर है कि जिन कला-रूपों और काव्य-परम्पराओ की

पर्याप्तता आज अपिद्ध हो गई है, उनके आगे ही हमको कदम उठाना होगा पीछे नहीं।

आगे कदम बढ़ाने का अर्थ यह नहीं है कि परम्परा के जिन आधारों पर हिन्दी कविता का नया रूप नये कला-मर्मों का निर्माण कर रहा है, उन आधारों की विलक्षणताओं और विशेषताओं को जान-बूझकर फैशनपरस्ती में त्याज्य घोषित किया जाय, लेकिन साथ ही सम्प्रति की अदम्य आवश्यकता और भविष्य की उदात्त सम्भावना को यथार्थ रूप से अभिव्यक्त करने में यदि विगत की कुछ विशेषताएँ नए कला-संस्कार के पथ में रोड़ा बनकर आती हैं तो स्वाभाविक है कि उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा; बल्कि तोड़ना भी पड़ेगा। नई कविता का स्तर ऊँचा करने के लिए तथाकथित गीतकारों की सस्ती लोक प्रियता से और कुछ छन्द कारों की कृत्रिम दुरूहता तथा लोक के प्रति उपेक्षा के कुहासा संस्कार से ऊपर उठाना होगा। नई कविता लोक-मानस की तृप्ति तभी कर सकेगी जब कि वह प्रेषणीय भी हो और साथ ही कला के नव-विकास के साथ-साथ लोक रुचि का संस्कार करती चले। केवल लोक मानस की क्षणिक तृप्ति करने वाली कविता को सफल समझकर जनवादी बताना जन-जीवन के सांस्कृतिक विकास की सम्भावनाओं को रुद्ध करना है और इस तरह सस्ती लोक-प्रियता का मार्ग जन-विरोधी मार्ग है। इसमें शक नहीं कि लोक-मानस की तृप्ति के साथ-साथ कला का नया विकास करना और उसके अनुसार ही लोक-मानस के कला-प्रिय संस्कारों को उन्नत बनाते चलना जटिल और कठिन कार्य है; लेकिन नई कविता और नई पीढ़ी के सामने सबसे बड़ा दायित्व यही है। इस दायित्व की गम्भीरता को ईमानदारी से अनुभव करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जो नये कवि अपनी कविता की कृत्रिमता और दुरूहता तथा जीवन-विरोधी दार्शनिकता का औचित्य समय की परिस्थितियों में खोजते हैं और कहते नहीं थकते कि परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही उनके मानस पर ऐसा पड़ता है कि दुरूहता और कृत्रिमता ही उनकी नई कविता के गुण हैं, तो वे स्वयं अपनी कला अक्षमता और जन विरोधी कुंठाग्रस्त फैशनपरस्ती का नगा रूप सामने रखकर अपनी उत्तरदायित्वहीनता के प्रति क्षमा की भीख-सी मांगते दिखाई देते हैं। यह एक दयनीय स्थिति है और इस स्थिति से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि ईमानदारी से वे अपने दायित्व को अनुभव करें। नई कविता के विकास और निश्चित रूप-निरूपण की तमाम सम्भावनाएँ नई पीढ़ी का अपने दायित्व के प्रति ईमानदार रहने पर निर्भर करती हैं।

दो शब्द

स्वप्न देखना मेरा स्वभाव है, और उसे कार्य रूप में परिणित करना मेरी आदत। पत्र-पत्रिकाओं में छपी सुन्दर और स्वस्थ रचनायें एक स्थान पर संग्रहित हो यह स्वप्न मैंने पिछले दिनों देखा था। मित्रों से पूछा—यह स्वप्न कैसा रहेगा? तो कुछ हँसे—कुछ ने सराहा भी, पर हँसने वालों की संख्या सराहने वालों से अधिक थी। मैं डरा कि कहीं यह स्वप्न, स्वप्न ही न रह जाये? पर श्री आनन्द जी (प्रकाशक महोदय) का उत्साह देख कर कार्य आरम्भ कर दिया,

दिल्ली राजधानी है, इसलिये इसकी कुछ अपनी विशेषतायें भी होनी चाहिये। और विशेषतायें भी होंगी, जिनका मुझे पता नहीं। परन्तु जिस विशेषता का मुझे कटु अनुभव हुआ है, वह है साहित्यिक गुट-बन्दी। यहां बहुत से गुट हैं, मठ हैं। उनके अपने नेता है, मठाधीश है। वह नेता और मठाधीश अपने-अपने मठों पर इतने सतर्क हैं कि क्या मजाल कि कोई भी दूसरी टुकड़ी की चिड़िया इनकी मुंडेरी पर बैठ जाये। और अगर दुर्भाग्य से आ भी बैठेगी तो उसे इस प्रकार घायल करेंगे कि दूसरे लोग पहिचान भी न सकें कि यह चिड़िया है या और कोई।

१९५५ के इस काव्य-संग्रह के पीछे भी इसी प्रकार की कटुता गुट बन्दी और सहज कार्य क्षमता के क्षत पदचिन्हों का अनुभव है।

इस असहयोग और बहिष्कार के बावजूद यह पुस्तक कैसी बन पड़ी है? यह पाठकों के सामने है। मुझे इसके बारे में केवल इतना ही कहना है कि एक बात जो मेरे मन में बहुत दिनों से खटक रही थी कि किसी प्रकार इन जाने माने सिद्धहस्त कवियों के साथ उन तरुण कवियों को भी रखा जाये जो बहुत दिनों से लिखते हैं—बहुत सुन्दर लिखते हैं। किन्तु अभी तक उनका कोई संग्रह नहीं छपा। इस संग्रह में मैंने कुछ तरुण कवियों को इन लब्धप्रतिष्ठ कवियों के साथ छापा है। इस प्रकार मैंने पाठकों और उन तरुण कवियों की उस दूरी को समाप्त करने का भी प्रयत्न किया है। जो अच्छा लिखने के बाद भी उन में है। इस संग्रह से इन दोनों को आपस में समझने का अवसर मिलेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

पत्र-पत्रिकाओं में छपी सुन्दर और स्वस्थ रचनायें इस संग्रह में छपें, इसके लिये जहां तक मेरी बुद्धि दौड़ी है, मैंने प्रयत्न किया है। किन्तु फिर भी किसी कवि की श्रेष्ठ को

सभी रचनायें प्राप्त करना-पढ़ना बड़ा कठिन है। लेकिन जहाँ तक मेरी दृष्टि गई है। मैंने ऐसी रचनाओं को ही चुना है जिससे पुस्तक की "श्रेष्ठ" पर कोई आंच न आये।

अन्त में सरिता, समाज, धर्मयुग, समाज कल्याण, सा० हिन्दुस्तान, आजकल, सरस्वती, अजन्ता, कल्पना, काव्य-धारा, नवपथ, कविता, आदि के सम्पादकों को धन्यवाद दूंगा। जिनकी कृपा से यह कवितायें मुझे सुगमता से प्राप्त हो सकी हैं।

मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के बारे में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। मेरे विचार से हिन्दी का यह दुर्भाग्य अभी उसका कई वर्षों तक पीछा नहीं छोड़ेगा।

✓ ६१७, छत्ता मदन गोपाल, 'कान्त'
दिल्ली-६। २०-७-५६

सूची

अंचल

कब तक !

कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये !

मेरे वज्र हृदय को तुम जी भर आघात सहा दो
जड़ता में अवरुद्ध पड़े अन्तर का स्रोत बहादो
कैसे शान्ति मिले जब तक मरु से जलधार न फूटे
कैसे सत्य मिले जब तक सपने का मोह न टूटे
जागें मेरे मन में जनम-जनम से जो सोये
कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये !

मत जुड़ने दो भग्न-हृदय जो तुमसे ही टूटा
मत मिलने दो वह जो तुमसे बिछुड़ गया छूटा
हो अप्राप्य वह सब मुझको जो तुमसे आज मना
केवल होता रहे सदा तुम पर विश्वास घना

विलग हुए कब मुझसे वे जो तुममें जा खोये
कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये !

ले लो सब तृष्णायें जो तुम तक न पहुँच पाईं
ले लो असफलतायें जो अपने में अकुलाईं
बुझ जाने दो दीपशिखा जो तुमसे नहीं जली
झूठी मेरी तन्मयता जो तुमसे नहीं फल

दो मुझ को संताप गये जो तुम से ही धोये
कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये !

दूर करो दुख के भय को सुख का अभिमान हरो
मेरी सुधि-सुधि में अपने जीवन की गूँज भरो
मेरे संशय-संशय में जय-घोष तुम्हारा हो
मेरी अनियन्त्रित गति में सन्तोष तुम्हारा ह

कब तक मेरा मन अपने को मरु भू पर बोये
कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये !

अनिल कुमार

दादा-वर्ग

दादा का तो अर्थ रहा है सदा बाप का बाप
लेकिन दादा-वर्ग भिन्न है इसे समझलें आप

दफ़्तर में यह अफ़सर बन कर गड़ा हुआ अवरोध
मातहतों की सही बात का करता सदा विरोध
राजनीति में रुपये के बल बन कर गांधी-भक्त
जनता के सच्चे प्रतिनिधि का पीता ताजा रक्त
करता है साहित्य साधना सिंहासन के पास
दादा-वर्ग ददरिया गाता राजछत्र का दास।

राजदण्ड के खूँटे में अटका साहित्यिक-गाय
मंत्री के घर पगुराये बिन दादाजी निरुपाय
लेटा है अब राजपंथ के रथ में दाद-वर्ग
साहित्यिक-संसद् की कुर्सी इनके मन का स्वर्ग
जान चुके हम फंसे हुए सब शोषण चक्की में
दादा-वर्ग अड़ा है युग की सही तरक्की में ।

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

पहाड़ी यात्रा

आगे बढ़ना ऊपर चढ़ना समानार्थ है
पीछे फिरना, नीचे गिरना एक बात है ;
यह पहाड़ है
यहाँ अर्थ ही आगे बढ़ने का ऊपर चढ़ना है।
हम इस पर चढ़ते जाते हैं,
हम इनके ऊपर प्रतिपल चढ़ते जाते हैं
ऊपर से बर्फीले झोंके आते हैं
हम सहम ठिठक कर रह जाते हैं
कभी-कभी कुछ कह जाते हैं
पर ज्यादातर सह जाते हैं

झोंके आकर सहमे ठिठके रह जाते हैं।

रह जाते हैं—
इसीलिए तो बार-बार आगे बढ़ते हैं
इस दुर्गम के गौरव का मर्दन करते हैं।
पद-चिन्हों में अपने बीते पल संचित हैं
हम थकते हैं तो छाया में रुक जाते हैं
सुस्ताते हैं।

भूल गये कुछ तो
पग दो पग लौट,
लौटकर बीते पल में,
नीचे जाकर
उस भूले को ले आते हैं।

सब कुछ लेकर
यानी मंज़िल को यह अपना सब कुछ देकर
(उस मंज़िल को सब कुछ देकर
जो इस अपनी धरती का सर्वोच्च शिखर है
जिसके ऊपर जो है, वह केवल ऊपर है)

हम भारी भरकम बोझा ढोते
आगे बढ़ते जाते हैं
हम ऊपर चढ़ते जाते हैं।

पदचिन्हों में अपनें बीते पल संचित हैं
हम कभी न उनसे वंचित हैं
वे हममें जीवित हैं, हम उनमें जीवित हैं
हम जीवित हैं,
हुआ अभी तक जो,
उससे मिलकर जीवित हैं।
पीछे रह जाने के,
नीचे रह जाने के,
भाव अगर आते हैं

तो हम एक एक झोंके को
सौ-सौ झोंके मान-मान कर सह लेते हैं
मामूली अनुभव को भी उद्‌गार बनाकर
कह देते हैं सपनों में भी रह लेते हैं।
वे आगामी पल वे जो हम में जीवित हैं
ये हम जो उनमें जीवित हैं,
हम जीवित हैं,
हुआ अनहुआ जो, उससे मिलकर जीवित हैं।
अंकित और अनंकित पदचिन्हों में अपने
ये पथधूल भरे श्रमलीन चरण निश्चित हैं।

हम आगे बढ़ते जायेंगे
पिछड़े रह जाने के भाव कभी आयेंगे

तो हम सपने देखेंगे,

उद्गार करेंगे, जोरों से गायेंगे

दुर्दम पिछड़े पन को हर कोशिश से पार करेंगे।

किंतु कभी हम थक जायेंगे

तो थोड़ा सा रुक भी लेंगे

सुस्तायेंगे।

छायावासी किन्हीं सुरक्षित पदचिन्हों को

और अधिक गहरा कर लेंगे

किसी-किसी पल और अधिक रह लेंगे

लौट तनिक रह लेंगे

क्योंकि हमें आगे वढ़ना है,

हमें वहुत सहना है

हमको वहुत-वहुत रहना है।

केदारनाथ सिंह

अनागत

इस अनागत को करें क्या ?
जो कि अक्सर
बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है।
किताबों में घूमता है,
रात की वीरान गलियों बीच गाता है।
राह के हर मोड़ से होकर गुजर जाता,

दिनढले—
सूने घरों में लौट आता है।
बाँसुरी को छेड़ता है।
खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है।

किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटा देता,
विस्तरों पर छाप अपनी छोड़ ,जाता है ।
इस अनागत को करें क्या ?
जो न आता है,
न जाता है ।
आजकल—
ठहरा नहीं जाता कहीं भी,
हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है,
कौन जाने कब, कहां वह दीख जाये ?
हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है ।
फूल जैसे अंधेरे में—
दूर से ही चीखता हो—
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है ।
हाथ उसके—
हाथ में आकर बिछल जाते ।
स्पर्श उसका—
धमनियों को रौंद जाता है ।
पंख—
उस की सुनहली परछाइयों मे खो गये हैं,
पांव—
उसके कुहासे में छटपटाते है !
इस अनागत को करें क्या हम—
कि जिसकी सीटियों की ओर—
बरबस खिंचे जाते है ?

गिरजाकुमार माथुर

सूरज का पहिया

मन के विश्वास का यह सोन-चक्र रुके नहीं,
जीवन की पियरी केशर कभी चुके नही।

उर्म रहे झलमल
ज्यों सूरज की तश्तरी
डंठल पर विगत के
उगे भविष्य संदली
आंखों में धूप लाल
छाप उन ओठों की
जिसके तन रोंओं में
चंदरिमा की कली

छाँह में वरौनियो के चाँद कभी थके नही,
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नही !

मन में विश्वास
भूमि मे ज्यो अगार रहे
अगराई नजरो में
ज्यो अलोप प्यार रहे
पानी में धरा गध
रुख में बयार रहे
इस विचार बीज की
फसल बार - बार रहे

मन में सघर्ष फास गड कर भी दुखे नही,
जीवन की पियरी केसर कभी चुके नही !

आगम के पथ मिले
रागोली रग भरे
सँतिए सो महल पर
जन भविष्य दीप धरे
आस्था चमेली पर
न धूरी साँझ घिरे
उम्र महा गीत बने
सदियो में गूँज भरे

पाव में अनीति के मनुष्य कभी झुके नही,
जीवन की पियरी केशर कभी चुके नही।

गोपालकृष्ण कौल

हवाई किला

न कुटिया, न कॉटेज, न विला...
दोस्त बनाते हैं किला।

न नींव, न ईंट न गारा, न चूना;
फिर भी उठाते हैं दीवार, ऊँची मीनार
उन का मन मुल्ला
जिस पर देता अजान कि ;
"दुनियाँ छोटी है, मैं कितना बड़ा हूँ।"

न कुटिया, न कॉटेज, न विला—
दोस्त बनाते हैं किला ;

कल्पना की छत,
सपनों का ड्राइंगरूम

शिष्टाचार के नाजुक रेशमीन पर्दे,
घृणा के द्वारपाल खुशामद के खानसामें
स्वास्थ्य विलासिता का...

दम्भ के देवता फूले समाते नहीं।
किले के स्वामी की रुचि ही सुरुचि है
बाकी सब कुरुचि है।
बौद्धिक विप्र के लिये 'बाकी' अस्पर्श्य है।

किले में तहखाना है...
अवचेतन मन-सा गहरा अन्धेरा,
जिसमें कैद है परित्यक्ता इन्सानियत।
आखिर किला है, शाही कैदखाना है।
बाहर नफरत का पहरेदार
प्यार की हवाओ से कहता है बार-बार—

अन्दर मत आना,
यह है कैदखाना,
यह वर्जित प्रदेश,
यह 'अह' का घर।

प्यार की हवाओ मे
जिसे गिरने का डर।
यह 'मैं' का किला है,
कुटिया, न कॉटेज, न विला है।

गोपालप्रसाद व्यास

दो हास्य

एक

विश्व मे विपमता है, सुनो साम्यवादी जन,
आज के अशरफीलाल, भरे नही, रीते हैं।

शारदा जी लेख लिखती हैं, छपते ही नहीं,
नाम नरसिंह गीदडों से गए बीते हैं।

ब्रह्म के प्रकाश करें भ्रम का विकास सदा,
युद्धवीर सिंह जी न एक युद्ध जीते हैं।

धनपाल निर्धन, बने हैं मूर्ख लेखपाल,
आज के गोपाल दूध नही, चाय पीते हैं।

बोझिल विषमता हो दूर
समतल भूमि का विस्तार हो।
मुक्त हो आलोक—
पृथिवी पुत्र का समभाव—
जीवन में नये सुख—सर्ग का उत्थान।

चिरंजीत

मधु-यामिनी

अलक संध्या ने सवारी है अभी,
म्यान में चंदा-कटारी है अभी,
चँपई रंग पै न आ पाया निखार,
रात यह मधु की कुंवारी है अभी।

चाँदनी की डगर पर तुम साथ हो,
प्राण, युग-युग तक अमर यह रात हो,
कल हलाहल ही पिला देना मुझे,
आज मधु की रात, मधु की बात हो।

क्या सितारों के इशारे, ध्यान दो,
कह रही मधुवात क्या, टुक कान दो।
जिन्दगी प्यासी खड़ी है द्वार पर,
आज मधु का पर्व, मधु का दान दो!

मृदुल अलकें मचल कर लहरा गईं,
सघन पलकें, तनिक उठ, शरमा गईं,
ज्यों किसी मधु कुंज पर, मधु हाट पर
बदलियाँ झुक झूम कर हों छा गईं।

बहुत सोया, और सोने दो मुझे,
और भी गुमराह होने दो मुझे,
आँज पलकों की छबीली छाँह में
लग गई है आख, सोने दो मुझे।

जानकीवल्लभ शास्त्री

गीत वितान

नीड़ छोड़ कर न उड़ विहंग रे !

इस अनन्त का न अन्त है कहीं,
तू विरम सके, अगम सुगम नही;
पंख ले समेट, मेट ले थकन,

गुदगुदा रही पवन तरंग रे !

यह असार प्यार दीखता मुझे ?
कूल भूल पार दीखता तुझे ?
कौन एक जो न नेक छोड़ता,

डोलता अबोल संग-संग रे !

छोड़ मोह विश्व-द्रोह से बड़ा,
छोड़ प्राण ज्ञान के लिए लड़ा !
तृप्त तो हुआ न, दृप्त ही रहा,
श्रान्त अंग सुप्त अन्तरंग रे !

सार शान्ति भ्रान्ति-भार ढो न अब,
सार तोष, जीत-हार ढो न अब,
टाल मत विशाल डाल को बना,
शून्य का सँवार रूप-रंग रे !

जगतप्रकाश चतुर्वेदी

वह गीत मैं गा सकता हूँ

आज भी चाहो तो वह गीत मैं गा सकता हूँ—
हास सुनके जिसे रोने लगे,
दर्द सुनके जिसे हँसने लगे।

मैंने जो राग जगाये थे तुम्हारे आगे
यह न समझो कि वह सोये हैं हमेशा के लिये
मैंने वह स्वर जो सुलाये थे तुम्हारे ही लिये
तुम नहीं हो तो वह सोये हैं हमेशा के लिये

तेरे इंगित पर अभी वह राग उठा सकता हूँ—
नैन सुनके जिसे मुँदने लगे;
स्वप्न सुनके जिसे जगने लगे।

दीप हंसता ही सदा देखा है मेरा तुमने
उसमें जो आग सुलगती है नहीं देखी अभी
मुस्कराते ही तो देखे है ये खामोश अधर
मन में जो पीर कसकती है, नही देखी अभी

अनकही बात वह चाहो तो मैं कह सकता हूँ
आग सुनके जिसे बुझने लगें
राख सुनके जिसे जलने लगे ।

एक तेरी ही नही और भी बातें है बहुत
जो कि रह-रह मुझे गमगीन किया करती है
आदमी का ही दरद आदमी को मालूम नही
कितनी सासें बिन जिन्दगी के जिया करती है

जग रहे तार, मेरे राग मुझे गाने दो—
चांद सुनके जिसे झुकने लगे,
धूल सुनके जिसे उठने लगे ।

आज भी चाहो तो वह गीत मैं गा सकता हूँ.........

देवराज दिनेश

जवानी

मनहर पूनम की रात में, लख तारों की बारात में,
पूछा चन्दा से-बता, जवानी किसको कहते हैं ?

सीने पर अगणित घाव हो, फिर भी जीने के चाव हो,
मुझ-सी मस्तानी चाल हो, गर्वोन्नत जिसका भाल हो,
सुख-दुख दोनो से प्यार हो, संघर्ष गले का हार हो,
जो जग को दे आलोक, जवानी उसको कहते हैं।
दुनियाँ जिसको दुहराय, कहानी उसको कहते हैं

पर्वत की मनहर गोद मे, वहता भरकर आमोद में,
पूछा निर्झर से-बता, जवानी किसको कहते हैं ?

बोला-जिसमें कलनाद हो, अन्तर में अति आह्लाद हो,
जीवन हो, और उमंग हो, उठनी नित नई तरग हो,
पथ मे लगकर चट्टान को, जो छोड न दे निज आन को,
बाधाओं को दे मोड, जवानी उसको कहते हैं।
अपना पथ स्वय बनाये, जवानी उसको कहते हैं।

लगकर उन्मत्त बयार को, वासन्ती के शृ गार को,
तब पूछा उससे-बता, जवानी किसको कहते हैं ?

जिस पर न कहीं प्रतिबध हो, सासो मे भरी सुगध हो,
साथी जिसका मधुमास हो,निज पर जिसका विश्वास हो,
गति मे बन्दी तूफान हो, अधरो पर मृदु मुसकान हो
जो चले पवन की चाल, जवानी उसको कहते हैं।
बिखराये रग गुलाल, जवानी उसको कहते हैं।

नभ पर चलते घनश्याम से, मनमोहक प्रिय अभिराम से,
जब मैंने पूछा-मीत ! जवानी किसको कहते हैं ?

अन्तर में भीषण आग हो, मुख पर फिर भी अनुराग हो,
विद्युत-सी संगिनि साथ हो, अमृत-घट जिनके हाथ हो,
हर्षे तो फूल खिला सके, रूठे तो प्रलय मचा सके,
मिल जहाँ अग्नि-जल रहे, जवानी उसको कहते हैं।
जिसकी गाथा सब कहें,जवानी उसको कहते हैं।

कोयल बौराई जा रही, मधुवन पर मस्ती छा रही,
तब उससे पूछा-शुभे ! जवानी किसको कहते हैं ?

अन्तर में कसक कराह हो, प्रिय से मिलने की चाह हो,
जो बैठी प्रिय की याद मे, घिर जाती हो उन्माद में,
पलकों में बंदी नीर हो, अन्त र मे पतली पीर हो,
फिर भी पंचम मे गाय, जवानी उसको कहते हैं ।
कर प्यार न जो पछताय, जवानी उसको कहते हैं

भवरा सरवर पर गा रहा, शतदल पर योवन छा रहा,
तब उससे पूछा-सखे ! जवानी किमको कहते हैं ?

कलियो से तन बिंधवा सके, काटों को मीत बना सके,
बन्दी बन प्रिय की बाह मे, जो रहे प्रणय की छाह मे,
सुनकर जिसके गु जार को, सौरभ मिल जाय बहार को
जो करे किसीको प्यार, जवानी उसको कहते है
हो प्रिय पर जो बलिहार, जवानी उसको कहते है

अन्तर के मादक गीत से, अपने मन के कवि मीत से,
तब मैंने पूछा-बता ! जवानी किसको कहते है ?

वासन्ती-सी रसलीन हो, फागुन-जैसी रंगीन हो,
रवि, शशि पलकों में बन्द हों, अन्तर में नूतन छन्द हों,
प्रिय के वियोग में क्षीण हो, पर तांडव-लास्य-प्रवीण हो,
जो प्रलय देख मुसकाय, जवानी उसको कहते हैं।
जो बुझते दीप जलाय, जवानी उसको कहते हैं।

धर्मवीर भारती

शाम : दो मनस्थितियां

—एक—

शाम है—मैं उदास हूं शायद—
अनमिले लोग कुछ अभी आये
देखिये अनछुये हुये सम्पुर
कौन मोती सहेज कर लाये—
कौन जाने कि लौटती बेला
कौन से तार कहां छू जाये !

बात कुछ और छेड़िये तब तक
हो दवा ताकि बेकली की
द्वार कुछ बन्द कुछ खुला रखिये
ताकि आहट मिले गली की भी—

देखिये आज कौन आता है
कौन सी बात नयी कह जाये
या कि बाहर से लौट जाता है
देहरी पर निशान रह जाये—
देखिये ये लहर डुबाये, या
सिर्फ़ तट देख छू के बह जाये !

कूल पर कुछ प्रवाल छुट जाये
या लहर सिर्फ़ फेन वाली हो
अधखिले फूल—सी विनत अंजुली
कौन जाने कि सिर्फ़ खाली हो !

—दो—

वक्त अब बीत गया—बादल भी
क्या उदास रंग ले आये—
देखिये कुछ हुई है आहट—सी
कौन है ? तुम, चले भले आये
अजनबी लौट गये द्वारे से
दर्द फिर लौट कर चले आये !

क्या अजब है पुकारिये जितना
अजनबी कौन भला आता है
एक है दर्द वही अपना है
लौट, हर बार चला आता है !

अनलिखे गीत सब उसी के हैं
अनकही बात भी उसी की है
अनउगे दिन सब उसी के हैं
अनहुई रात भी उसी की है
जीत पहले पहल मिली थी जो
आखिरी मात भी उसी की है

एक सा स्वाद छोड़ जाता है
जिन्दगी तृप्त भी व प्यासी भी
लोग आये गये बराबर हैं
शाम गहरा गयी उदासी भी!

नरेन्द्र शर्मा

मोती मसजिद से ताजमहल

अब कहां ताज, मुमताज कहां, है शाहजहां भी शाह कहां ?
मोती मसजिद से ताजमहल को देख रहा है शाहजहां।
अब वह न अर्धपति पूर्णकाम, सम्राट पुत्र का वन्दी जन।
श्वासों की जीर्ण शृंखला है, यह अस्त-ध्वस्त असफल जीवन।

बीते जीवन के संग न क्यों उसका जीवन भी गया बीत ?
जीते रहने की अभिलाषा को क्यों न आज वह गया जीत ?
प्रेमी-सम्राट कहाया वह, पर गया नहीं प्रेयसी संग,
निर्जीव हुए पाषाण सदृश जब मरमर से वह मसृण अंग।

वह सौंप न पाया अर्थ-शक्ति, वत्सल बन देता रहा मोह,
मणि-खचित मयूरासन पर क्यों बैठा न दिया दाराशिकोह ?
दिल्लीपति का वह सिंहासन छिनगया, बना अवरंग शाह,
अवरंग उसीका आत्मज है, क्यो आत्मा को मिलती न थाह ?

बन्दी है वह सम्राट पुत्र के अनुशासन के अन्तर्गत।
धिक्कार उसे सौ वार हारकर जीता है वह जीवन्मृत।
विक्षोभ-ग्रस्त मन बना भार जर्जर तन झुकता गया, हाय।
प्रिय की सुधि का गोचर स्वरूप पर ताज आज शीतलच्छाय।

वह भूल गया बन्दी है, जागी सुधि, जागी नई साध।
तन की परवशता गया भूल, मन हुआ मुक्त जीवन अवाध।
बीते की सुधि मे रमे नयन, मन खोजे दूजी राह कहा ?
मोती मसजिद से ताजमहल को देख रहा है शाहजहा।

फिर सहसा अरुणशिखी बोला, चादनी रात का प्रहर शेष।
जा रही निशा आ रही उषा, स्वर भर प्रकाश करता प्रवेश।
मृतप्राय कपोलो पर आँसू, नरगिस के फूलो पर शवनम।
जगमगा उठा कामना लोक, प्रत्यूष-प्रहर का चरण प्रथम।

था मुग्ध काम पर अर्थ, मुकुर हे रवि का ज्यो शीतल कैरव।
अव कैरव को कर अस्त मुअज्जन का गूँजा मधु-रव भैरव।
यह जीवन केवल नही अर्थ, यह जीवन केवल नही काम।
सर्वोपरि है अल्लाह और आलोक लोक ही परमधाम।

वह झुकी देह झुक गई और आलोक हुआ तम को प्रणम्य।
तम गया और भ्रम गया और फिर मोह-द्रोह सब हुए क्षम्य।
कुछ और हुई फिर अश्रु वृष्टि निखरी नूतन हो गई दृष्टि।
मोती मसजिद से ताजमहल में दिखी नई सम्पूर्ण सृष्टि।

अन्नमय कोष से उठे प्राण, प्राणमय कोश से उठा तेज,
कर पार मनोमय कोश गया वह तेज त्याग कर कनक सेज।
फिर तेज उसे ले गया वहाँ, था समाविस्थ आनन्द जहाँ।
मोती मसजिद से ताजमहल को देख रहा था शाहजहाँ।

नागार्जुन

निराला के प्रति

हे दधीचि, तुमसे घबराते हैं मांधाता
नही पूछते तुमको भारत भाग्य विधाता
मुदित देवगण, किन्तु तुम्हारा तप जारी है
जनजीवन आलोडित अद्भुत लाचारी है

वह चाटुकार-दल से घिरा इन्द्र आज मुसका रहा
तुम जला किये हो रात-दिन, लाभ किन्तु उसका रहा।

लोग दुखी हैं, अन्न-वस्त्र का है न ठिकाना
लाल किले से टकराता है नया तराना
नये हिन्द का नया ढग है, नीति निराली
मुट्ठी भर लोगो के चहरो पर है लाली

हे नीलकंठ! चुपचाप तुम, युग की पीड़ा पी रहे
बस नई सृष्टि की लालसा लिये कथंचित् जी रहे।

हे कविकुलगुरु, हे महिमामय, हे सन्यासी
तुम्हें समझता है साधारण भारतवासी
राज्यपाल या राष्ट्रप्रमुख क्या समझें तुमको
कुचल रहीं जिनकी संगीनें कुसुम-कुसुम को

सुखमय, कृतज्ञ, समदृष्टि वह जनयुग जल्दी आ रहा
इस मिट्टी का कण-कण सुनो, गीत तुम्हारे गा रहा।

नीरज

देखती ही न दर्पण रहो

देखती ही न दर्पण रहो प्राण ! तुम
प्यार का यह मुहूरत निकल जायेगा ।

सांस की तो बहुत तेज रफ्तार है
और छोटी बहुत है मिलन की घड़ी,
आंजते - आँजते ही नयन बावरे
बुझ न जाये कहीं उम्र की फुलझड़ी,
सब मुसाफिर यहाँ, सब सफर पर यहां
ठहरने की इजाजत किसी को नहीं,

केश ही तुम न बैठी गुथाती रहो
देखते-देखते चाँद ढल जायेगा !

झूमती गुनगुनाती हुई यह हवा
कौन जाने कि तूफ़ान के साथ हो,
क्या पता इस निदारे गगन के तले
यह हमारे लिये आखिरी रात हो,
जिन्दगी क्या समय के वियाबान में
एक भटकती हुई फूल की गंध है,

माँग ही तुम न बैठी सजती रहो
कल दियें को सवेरा निगल जायेगा !

यह भटकती निशा, यह बहकती दिशा
कुछ नहीं, है शरारत किसी शाम की,
चाँदनी की चमक, दीप की यह दमक
है हँसी बस किसी एक बेनाम की,
है लगी होड़ दिन-रात में प्रिय ! यहाँ
धूप के साथ लिपटी हुई छाँह है,

वस्त्र ही तुम बदल कर न आती रहो
यह शरमसार मौसम बदल जायेगा ।

होट पर जो सिसकते पड़े गीत यह
एक आवाज़ है सिर्फ मेहमान की,
ऊँघती पुतलियों मे जड़े जो सपन
वे किन्ही आँसुओं से मिले दान हैं,
कुछ न मेरा, न कुछ है तुम्हारा यहाँ
कर्ज के मोल पर सिर्फ़ हम जी रहे,

चूड़ियाँ ही न तुम खनखनाती रहो
पैंठ का वक्त आया निकल जायेगा।

कौन श्रृंगार पूरा यहाँ कर सका
सेज जो भी सजी सो अधूरी सजी,
हार जो भी गूँथा सो अधूरा गुँथा
वीन जो भी वजी सो अधूरी वजी,
हम अधूरे, अधूरा हमारा सृजन
पूर्ण तो वस एक प्रेम ही है यहाँ,

काँच से ही न नजरें मिलाती रहो
बिम्ब को मूक प्रतिबिम्ब छल जायेगा!

नीलकंठ तिवारी

मीठी लगन लगी रहती है

दीपक वाती स्नेह अगन बिन,
क्वारी जोत जगी रहती है।
कोलाहल के पार कहीं से, देता रहता कौन बुलावा,
जैसे सपनो में गुंजित हो, झंकारों का मधुर छलावा,
कोई प्यास, प्रतीक्षा बन कर, अपने आप ठगी रहती है।
मीठी लगन रहती है।

हृदय धड़कता, रक्त झनकता, नैनों के डोरे तन जाते,
सुखमय दुख के, दुखमय सुखके, रस में तनमन हैं सन जाते,
जी की पिघलन, कसकन में भी, कोई आंच पगी रहती है।
मीठी लगन लगी रहती है

हरियाते हैं घाव अनेकों, घाव-घाव मे भाव अनेकों,
भावों में अनुभाव अनेकों, जगते नये अभाव अनेकों,
अन्तरवासी अश्रु कणों की, लहर सदा उमगी रहती है।
मीठी लगन लगी रहती है।

जाने किन कुहरिल परदों कों, चीर-चीर, वंशी ध्वनि आती
रिक्त चेतना मुग्ध क्षणों मे, भरी हुई यमुना वन जाती,
अगन तार-सी इस तन-मन में, किसकी याद तगी रहती है।
मीठी लगन लगी रहती है।

विन वादल के वरसा होती, और हृदय की कुटिया रोती,
जीवन की सारी विह्वलता, बनकर खोज स्वयं में खोती,
धरती अम्बर बीच कहीं पर, मेरी नजर टंगी रहती है।
मीठी लगन लगी रहती है।

निरंकरदेव सेवक

रूसी नेताओं के भारत आगमन पर

जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य विधाता।
आज हिमालय आगे बढ़कर तुमसे हाथ मिलाता।

विश्व-शान्ति का चक्र तुम्हारे स्वर से संचालित है।
मानवता की बेलि तुम्हारे श्रम से प्रति पालित है।
मान तुम्हारा शोषित जनता में अभिमान जगाता।
जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य विधाता।

आपस के सदभाव तुम्हें है खीच यहां तक लाये ।
नेहरु के भारत ने स्वागत पथ में पलक बिछाये ।
तुम दोनों नवयुग के सुख मय सपनों के निर्माता ।
जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य विधाता ।

विमल वोलगा का जल गंगा में मिल वहने आया ।
उसकी कुछ सुनने अपने कुछ अनुभव कहने आया ।
अमर रहे सदियों यह निश्छल सरल स्नेह का नाता ।
जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य विधाता ।

अणु-बम से संत्रस्त जगत को राह नई दिखलाओ
बापू की समाधि पर श्रद्धा के दो फूल चढाओ ।
कोटि-कोटि हृदयो की आशा जन जीवन दाता ।
जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य विधाता ।

नटवरलाल स्नेही

गीत

अन्तर में क्यों आज सघन घन घिरते जाते हैं ?

भूखे हैं ये प्राण किसी से घुल-मिल जाने को,
भूखे है ये भाव गीत बन बाहर आने को।
मुझसे अधिक क्षुधाकुल जग में कौन हंस जो कि—

आंखों की सीपी से मोती खिरते जाते हैं ?
अन्तर में क्यों आज सघन घन घिरते जाते हैं ?

मेरी आशा का युग-युग से सरवर खाली है,
चाहों के उपवन की उजड़ी डाली-डाली है।
मुझसे अधिक तृषातुर भावुक भ्रमर कौन है जो कि-

नयनो के नीरज से मधुकरण गिरते जातेहैं ?
अन्तर मे क्यो आज सघन घन घिरते जाते है ?

मेरी मिलन-निशा युग-युग से सूनी-सूनी है,
प्राणों को व्याकुलता दिन-दिन दूनी-दूनी है।
डूब रहा है और कौन जिसके कि सहारे को-

आसू पर ममता के तिनके तिरते जाते हैं ?
अन्तर में क्यो आज सघन घन घिरते जाते है ?

नीरव

तु हारी याद !

दिन के द्वार भिड़े आहट सुन
रात जगी जब ले अंगड़ाई !
मुझको याद तुम्हारी आई !

किरण-कटोरा कर में थामे
सुन्दर साड़ी होठ कुसूमी ।
गगन-लोक की नगर वधू-सी
साझ क्षितिज के पथ पर झूमी ।
जब ढलती स्वर्णिम आभा ने,
भू पर मादकता बरसाई ।
मुझको याद तुम्हरी आई !

हिला हवा का आंचल चुप-चुप
खामोशी ने किया इशारा।
सुख मय सपने आज आँख में
सुला दिया जब ये जग सारा।
पेड़ों के विस्मित होठों पर
थिरक उठी थी जब शहनाई।
मुझको याद तुम्हारी आई।

नभ के मान सरोवर में जब
अगणित कमल लगे लहराने
औ, नीली लहरों पर कोई-
एक मराल लगा मंडराने-
जिसके रजत परों से झड़ कर
धूल धरा के तन पर छाई।
मुझको याद तुम्हारी आई!

पीकर कुछ आनन्द अनोखा-
निर्जनता बेहोश पड़ी थी,
कालिका के अधरों पर मेरी-
कविता जब कण-कण बिखरी थी।
होड़ लगा गीतों से हारी
उड़ी बदरिया जब अलसाई।
मुझको याद तुम्हारी आई!

जब असीमता आंक रही थी-
मेरी जीवन लघु-सीमा को
दूर खड़ा अम्बर अवनी को-
चूम रहा था नव सुसमा को
सून्य सेज पर तिमिर ओढ़कर
लेती थी झपकी अमराई।
मुझको याद तुम्हारी आई!

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हूँ ऋणी तुमने नया जीवन दिया है,
खो गया था जो कहीं वह मन दिया है।

तप रही थी ग्रीष्म-सी यह प्राण की धरती,
भावनायें जा रही थीं दूब-सी मरती।
एक बेचैनी समाई थी शिराओं में,
शान्ति आशा को न मिलती थी दिशाओं में।

क्या कहूँ पाहुन नमित-सी दृष्टि से तुमने,
जो बने रस-स्रोत वह सावन दिया है।

शक्ति चुकती जा रही थी दूर थी मंजिल,
साँस का दुश्मन बना था राह का तिल-तिल।
लांछनों के खड्ग खोले थे खड़े अपने,
हाथ खींचा था युगों के पुण्यने, तपने।

आ अयाचित दान-सी पथ पर स्वयं तुमने,
जो अचल दृढ़ता बने वह प्रण दिया है।

जन्म-जन्मों से सजाये अर्घ्य आँखें थीं,
दूर उड़ने को खुलीं ये पलक-पंखें थीं।
कल्पना की आरती का दीप रोता था,
घुटन का ज्वालामुखी उद्विग्न होता था।

सिद्धि की उपलब्धि-सी वरदायिनी! तुमने,
जो बने चिर ध्येय वह पूजन दिया है।

अब मुझे फिर जिन्दगी भाने लगी है,
प्राण में मस्ती नई छाने लगी है।
आज मेरे पाँव धरती पर नहीं पड़ते,
खिल रही मुसकान जैसे फूल हों झड़ते।

अर्थ जीने का बता कर प्रिय! मुझे तुमने,
मुक्ति से जो श्रेष्ठ वह बन्धन दिया है।

प्रभाकर माचवे

गोआ

सालाज़ार ! नहीं तुमने इतिहास पढ़ा क्या ?
नहीं रहे चगेंज, जार, हिटलर या नीरो।

"मुई चाम" की एक आह का दर्द वस्तु क्या,
तुम क्या जानो "सार भसम" बल ? ओ तस्वीरो !
गोआ-दियू-दमन की, नंगे दमन और हिंसा की
मिट जायेंगी ज्योंकि लकीरें सागर-तट पर, वालू के घर

क्या इस दिन के लिये सहासी आये थे पुरखे एकाकी
वास्को डी गामा आये थे, अल्बुकर्क, इस्पहानी नर?
यही तुम्हारा धर्म? रक्त की एक बूंद जो थी सलीब पर
शताब्दियों पर रंग ला गई, आज शांति का मंत्र विश्व भर

तुम जूडास! नहीं तुम भाई ईशा के तत्वों के अनुचर
जो कि निहत्थों पर बर्बर गोली बरसाते क्रूर भयंकर।
हर शहीद ऐंटियस बनेगा—महाकाल हो या कि सुभद्रा
देखो यह इतिहास—वक्ष पर एक तप्त रक्तांकित मुद्रा।

प्रयागनरायण त्रिपाठी

मुझ में कुछ है
जो मेरा बिल्कुल अपना है
जो है मेरे क्षीरोज्ज्वल मन के मंथन का कोमल माखन
जिसको मैंने बहुत टूट कर
बहुत-बहुत अपने मे रहकर
बहुत-बहुत सह कर पाया है
जिस को रह-रह दुलराया है

गद्गद् चिन्तन, आराधन, एकान्त समर्पण की घड़ियों में
मात्र वही है : मेरा आश्रय, मेरा आत्मज, पूर्णभूत, "मैं"
जिसको स्वर में, लय में, शत चित्रों में,
शत्-शत् संकेतों में तुमको देना चाह रहा हूँ।

पर यह मेरी लब्धि :
शब्द-सागर-तट-वासी अचल कपिल वह :
समाधिस्थ है।
कोंच रहे हैं उसको रह-रह
मेरे आतुर यत्न : सहस्त्र-सहस्त्र सगर-पुत्रों-से सज्जित :
इस भय को भी भूल कि निश्चय
भस्म सभी यह हो जायेंगे
जब उसकी समाधि टूटेगी।
कोंच रहे हैं : पर वह स्थिर।
जाग रहे हैं अनुक्षण : पर यह स्थित है।

× × ×

कब जागेगा—
कब जागेगा यह दर्पण-गिरि-गुहा-निवासी ?
कब तुरीय त्यागेगा—
यह अन्तस्थ अटल सन्यासी ?

—

बलवीरसिंह 'रंग'

दबे हुए अँगार सजग हैं

बुझती हुई राख में अब भी,
दबे हुये अंगार सजग हैं।

ध्वस्त हुआ दासत्व देश का,
शेष अभी शोषण का बंधन।
प्रभुता के हाथों में अब भी,
जीवन के श्रम का मूल्यांकन।

यद्यपि मंगल कलश अचेतन,
फिर भी वन्दनवार सजग हैं।

सुनते हैं निर्माण निकट है,
किन्तु, पुनर्निर्माण दूर है!
पतन सिन्धु में नैतिकता का,
एकाकी जलयान दूर है।

सत्ता के अलसित आसन पर
जनहित के अधिकार सजग हैं!

असन्तोष के, आघातों से
आज शान्ति भी मर्माहत है।
प्रजातंत्र के सुखद उदय में
अब भी दुखियों का बहुमत है।

उदासीनता की रजनी में
कर्मठ पहरेदार सजग हैं।

बालमुकुन्द मिश्र

नई प्रात, नई बात

नई लड़ी है आँख प्रात से,
प्रीति रात की टूट रही है।

रस-पराग से दूर फूल, है,
कली डाल से छूट रही है।

रूप प्रिया को, प्यास किसी की,
रच प्रपंच रात लूट रही है।

तम आया ग्रस लिया मही को,
प्रात-किरण लो, फूट रही है।

बालस्वरूप 'राही'

अजन्ता की कला कृतियों के प्रति

ओ, अजन्ता की सुकोमल अप्सराओ !
स्वर्ग की परियों-सरीखा रूप औ लावण्य लेकर
तुम यहां चिर सत्य की अनमोल धरती पर
उतर आई भला कैसे ?
बताओ, कौन-से युग, कौन वैभव की धरोहर हो ?
नयन खिचते तुम्हारी ओर बरबस ही
मगर पलकें लजाकर अवनि पर चुप-चाप झुक जातीं।
हमारा आज नंगा है

मुझे अफसोस इसका ही नही कम
किन्तु मेरे कान में क्या कह रही हो तुम—
कि कल भी हम योही परिहृत वसन
निर्लज्ज होकर नाचते थे !
हे कहाँ तुममे तथागत की तपस्या
और सयम भिक्षुओ का
काम-पीडित, तुम, तुम्हें मानव-हृदय की
सूक्ष्मतम अनुभूतियो से वास्ता क्या है ?
तुम्हे मेरी कसम इतना बता दो,
व्यक्ति की अभिव्यक्ति हो तुम
या कि तुम में बोलता हे युग तुम्हारा, विश्व सारा ?
हो किसी सम्राट की उद्दाम नगी वासना की तुम निशानी
या कि जन- जन के हृदय की तुम कहानी हो ?
तुम्हारे न्यन में जो रग नंगी वासना का झिलमिलाता है
तुम्हारे स्वर्ण—अधरो से
हजारो चुम्बनो की गंध जो उठती
तुम्हारे वक्ष पर यह उ गलियो की छाप जो सहसा झलक जाती
तुम्हारे जिस्म की सौ-सौ दरारें
कौन—से युग सत्य से परदा उठाती है ?
तुम्हारी बाह से लिपटा, तुम्हारे वक्ष से चिपटा
खडा है कौन वह,

वह कौन है, जो झांकता है हर इशारे मे तुम्हारे ?
नग्न हो सकता रजत है
पर धरा नंगी कभी होनी नही है,
फूल का, लतिका–कली का, वृक्ष-पत्तों, छाल-वल्कल का
नही तो धूल का ही, शूल का ही
वस्त्र निज तन से लपेटे
सिकुड़ती, सकोच करती, युग–युगों मे वह चली आई
कभी दूकान पर बैठी नही
बाज़ार में नाची नही है ।
नग्न हो सकता स्वयं सम्राट
पर, जनता कभी नंगी नही होनी
इसी से नग्न हो तुम क्योंकि तुम जनता नही हो––
हो 'अ–जनता'
देखने से लाज लगती है तुम्हारी ओर ।
बोलो, सार्थक करती कला की कौन परिभाषा भला तुम ?
रूप को आकार देना ही कला ?
प्यार को आधार देना ही कला है ?
क्या कला है सिर्फ वह ही
काम का जो तीर खाकर छटपटाती हो बराबर ?
क्या कला है सिर्फ वह ही
ा भर जो द्वार पर रति के निरन्तर खटखटाती हो ?

कला क्या नूपुरों को शब्द देकर खत्म हो जाती ?
कला क्या देवताओं को, सुरों को, आर्घ्य देकर खत्म हो जाती,
कला क्या खत्म हो जाती किसी भी वासना को रूप देकर
काम पीड़ित मेनका की कामना को शब्द देकर ?
और, वे, जो प्रात: से निशि तक बराबर जूझते श्रम से
सुबह से शाम तक निर्माण करते हैं,
कला के वास्ते रोटी उगाते हैं
कला के वास्ते कपड़ा बनाते हैं,
जिन्होंने खून से अपने धरा की मांग सींची है,
जिन्होंने घर बनाये हैं, सबल दीवार खींची है,
जिन्होंने मनुजता के वास्ते निज प्राण की बाजी लगाई
रात जगते ही बिताई,
जो जगत का भार अपने वक्ष पर चुपचाप सहते हैं,
कि जो कुछ चाहते कहना विवश पर, मूक रहते हैं
कि उनके मौन को आवाज देना क्या कहोगी तुम ?
कि उनके मौन को निज साज देना क्या कहोगी तुम ?
कला क्या वह नहीं है जिन्दगी जिसमें पुलक के गीत गाती हो
कि मिट्टी मुसकराती हो
सदन श्रम के स्वयं साकार होते हों ?
अजन्ता की कला-कृतियों !
कहो, युग में तुम्हारे क्या बिना श्रम बीज के बोये

धरित्री लहलहाती थी
कुदाली का अछूता प्यार ठुकरा
क्या धरा गेहूं, चना, जौ, बाजरा बनकर निखरती थी ?
बिना मजबूत हाथों के रखे बुनियाद
क्या कोई इमारत तब उभरती थी ? -
तुम्हारा यह मधुरतम रूप मुझको देखना कब है,
दिखाओ,
तुम मुझे निर्माण की बाहें दिखाओ !
स्वर्ग के इन देवताओं से कहो तुम, लौट जायें वे
दिखाओ, तुम मुझे इनसान की बांहें दिखाओ।
ओ, अजन्ता की-कला-कृतियो,
तुम्हारा हाथ यह,
जिसमें रची मेंहदी अमर सोहाग की अरुणिम,
निगाहों में कभी मेरी न खुभ सकता;
तुम्हारा यह सुकोमल पाव,
जो मृदु फूल के भी चुम्बनों से कांप उठता है
सिहरकर डगमगा जाता,
किन्ही अनजान राहों की कहानी सुनायेगा।
तुम्हारी आँख का काजल
किसी युग-सत्य के ऊपर पड़ा परदा
—कि जिस पर मकड़ियां होंगी कभी की बुन चुकी जाले—

उठाने में सफल होगा ?
तुम्हारे प्रेम-पत्रों में
किसी के- लिखे आंसू भला क्या पढ़ सकूंगा मैं
किसी की अनकही बातें
हृदय के द्वार पर सिर मार पायेंगी ?
छुपा लो तुम,
छुपा लो, तिमिर के तारीक परदे में
कि अपनी यह नजाकत
यह सुकोमलता
नशीले रंग
प्रथम अभिसार की उन्मुक्त आतुरता
लड़प यह !
डूब जाओ,
डूब जाओ, तुम कहीं अज्ञात सागर मे ।
उभरने दो निगाहों में कि मेरी हाथ वे,
जिनमें अभी तक कसमसाते हो नये छाले
लहू के लाल-धब्बे मुसकुराते हो,
कुदाली की जवानी गीत गाती हो ।
उभरने दो चरण वे नयन में मेरे—
कि जिनके घाव अब तक रिस रहे हों
शूल की नोकें गड़ी हों अब तलक जिनके अंगूठों में

अभी तक थकन के उच्छ्वास उठते हों सुगन्धित ।
रजत की चमचमाहट से न मेरी आख चुंधियाओ
कनक की चमक का ताला न मेरी पलक पर डालो,
रखो, तुम पास अपने वासना के तीर तरकश में सजोये,
एक भी बरछी कटीली प्रेरणा की हो तुम्हारे पास तो
मेरे हृदय में भौक दो,
जिसके जखम का खून मजिल को डुबो डाले तड़प कर ।
ओ अजन्ता की-कला कृतियो ।
रहो अपने सुकोमल आचलो मे
फूल तुम विश्राम के बाधे, जलाये दीपिका रति की
तुम्हे सौगन्ध है मेरी
अगर गति का नुकीला शूल हो कोई तुम्हारे पास
मेरे पाव में उसको गडा दो
भर सके जिससे कि वह सिन्दूर क्वारी माग मे
अनजान राहो की
मुझे निर्माण से पहचान करनी है।

भारतभूषण अग्रवाल

कार्टूनों का जुलूस

हाँ, हाँ, यह सच है,
ठीक ही सुना है यह तुमने,
कि कल रात
दूर, सात सिन्धु पार
अणु का विस्फोट हुआ,
उड़ गईं उद्‌जन की धज्जियाँ
जिसके धड़ाके की धमक से
क्षीणकाय स्वरधारी नारों का दम टूटा,
एक लघु हिचकी ले त्यागे उन्होंने प्राण !

यह लो,

वह देखो

नारो की अर्थियाँ उठाये आ रहा है

वह जुलूस कार्टूनो का

वासी अखबारो में लपेटे हुए शव को

फूटे गुब्बारों-से जिनके सिर

झूलते हैं कन्धो पर,

कैमरे के लैन्स-सी है आँखें बुझी हुई

बिगड़े कम्बख्त लाउड-स्पीकर-से

जिनके मुख नि शब्द खुले है।

रिपटो से टुकी हुई निश्चल उँगलियाँ है,

दाँतेदार पहिये-सा दिल घूमे जाता है,

वार्निश से पुते हुये चेहरो पर

रेडियो एक्टिव धूल की परतें जमी बैठी है।

टाइपराइटर की 'की' की तरह

सबके पैर बारी-बारी से उठते हैं

और सब एक ही जगह पर पड़ते ह

और फिर लौटकर तुरन्त बिखर जाते है।

सोचो मत व्यर्थ है,

देखो मत यह है जुलूस कार्टूनो का,

नारो की अर्थियाँ उठाये जा रहा है जो श्मशान को।

हठ जाओ सामने से,
रास्ता दो इनको,
कहीं इस सामूहिक मृत्यु की अशुभ छाया
आँखों में बसे हुये
अ-जनमे तुम्हारे इन सपनों पर न पड़ जाये !
आओ,
अभी रास्ते से हट जाओ,
जाने दो जुलूस को !

मार्कण्डेय

एक दिन

आख भर आई
अचानक राह पर देखे कमल के पात,
सूखी पखुडी,
पद-चाप, उन्मन आदमी की
और पूछा भी नही "है आप" !
पथ आगे गया,
पद धूलि तो थी।
कमल के पात

सूखी पखुड़ी तो थी ।
पर निगोडी आँख ने धोखा दिया,
झूठ ही परछाँह को देखा किया
स्वप्न टूटा,
अभागी नीद कट आई
आँख भर आई .   .... ।

-मधुर शास्त्री-

वसन्त-गीत

वसन्ती पवन ने हंसाया चमन, यह मिलन का समय रूठ जाना नहीं।

ओढ़ पीली नई चूनरी नव-कली

देख अपने सजन को लजाने लगी,

जन्म दिन जानकर आज मधुमास का

चंपई आंगना को सजाने लगी,

फूल-दल का नया थाल कर में लिये

है पलाशी लगी चौक को पूरने-

चांदनी चाँद के संग आकाश में-

रश्मियों की बसुरिया बजाने लगी,

हंसी के प्रहार ने जगा दी निशा, यह धुला सा निलय रूठ जाना नहीं,

वसन्ती पवन ने हंसाया चमन,
यह मिलन का समय रूठ जाना नही ।

लोरियों को सुनाती हुई कोकिला
पुष्प—शिशु को स्वरों में सुलाने लगी,
झूलना डाल कर झूलती डाल पर
पल्लवो का हिंडोला डुलाने लगी,
मंजरी ने इशारे किये नैन से
कौन समझा ? न जाना किसी ने कही
अर्घ्य शवनम लिये द्वार पर है खड़ी
ज्यो प्रवासी पिया को बुलाने लगी ।

विहसती डगर ने बुलाया पथिक, यह समर्पित प्रणय रूठ जाना नही
वसन्ती पवन ने हसाया चमन,
यह मिलन का समय रूठ जाना नही ।

स्वप्न लेकर नयन मे नई प्रेरणा
अकुरो के हृदय मे मचलने लगी,
लहलहाते हुये प्राण-उद्यान की-
मदभरी नौजवानी सभलने लगी,
गीत गाने लगा है मधुप मन चला
मुसकराहट सुरभि-साँस में हँस पड़ी

साधना जग उठी, भावना रम उठी·

कल्पना सत्यता में बदलने लगी,

मैं बढ़ा हूं सरल प्यार की राह पर हो न जाना, विलय रूठ जाना नहीं

वसन्ती पवन ने हंसाया चमन,

यह मिलन का समय रूठ जाना नहीं ।

रामधारीसिंह दिनकर

<u>समर शेष है</u>

ढीली करो धनुष की डोरी, तरकश का कश खोलो,
किसने कहा, समर की वेला गई, शान्ति से बोलो।
किसने कहा, और मत वेधो हृदय वह्नि के शर से,
भरो भुवन का अंग कुसुम से, कुंकुम से, केशर से।
कुंकुम लेपूँ किसे ? सुनाऊँ किसको कोमल गान ?
तड़प रहा आँखों के आगे भूखा हिन्दुस्तान।

फूलों की रंगीन लहर पर ओ उतराने वाले,
ओ रेशमी नगर के वासी ! ओ छवि के मतवाले।
सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है,

दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अंधियारा है।
मखमल के परदों के बाहर, फूलों के उस पार,
ज्यों का त्यों है खड़ा आज भी मरघट-सा संसार।

वह संसार जहाँ तक पहुँची अब तक नही किरण है,
जहाँ क्षितिज है शून्य अभी तक अंबर तिमिरवरण है।
देख जहाँ का दृश्य अभी तक अंतस्तल हिलता है,
माँ को लज्जा-वसन और शिशु को न क्षीर मिलता है।
पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज,
सात वर्ष हो गये, राह मे अटका कहाँ स्वराज?

अटका कहाँ स्वराज बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई, वेदना जनता क्यों सहती है?
सब के भाग दबा रखे हैं, किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बन्दिनी, बता, किस घर मे?
समर शेष है, यह प्रकाश बन्दीगृह से छूटेगा,
और नही तो तुझ पर पापिन! महावज्र टूटेगा।

समर शेष है, इस स्वराज को सत्य बनाना होगा,
जिसका है यह न्यास, उसे सत्वर पहुँचाना होगा।
धारा के मग मे अनेक पर्वत जो खड़े हुये हैं,
गंगा का पथ रोक इन्द्र के गज जो अड़े हुये हैं।
कह दो उन से, झुके अगर तो जग मे यश पायेंगे।
अड़े रहे तो ऐरावत पत्तों-से बह जायेंगें।

समर शेप है, जन गगा को खुल कर लहराने दो,
शिखरो को डूबने और मुकुटो को वह जाने दो।
पथरीली ऊँची जमीन है, तो उसको तोडेंगे,
समतल पीटे विना समर की भूमि नही छोडेंगे।
समर शेप है, चलो ज्योतियो के वरसाते तीर,
खड-खड हो गिरे विपमता की काली जजीर।

समर शेप है, अभी मनुज-भक्षी हुँकार रहे है,
गाँधी का पी लहू जवाहर पर फुंकार रहे हैं।
समर शेप है, अहकार उनका हरना बाकी है,
वृक को दत हीन, अहि को निर्विप करना वाकी है।
समर शेप, शपथ धर्म की लाना है वह काल,
विचरे अभय देश मे गाँधी और जवाहर लाल।

तिमिर पुत्र ये दस्यु कही कोई दुष्काण्ड रचेना,
सावधान हो खडी देश-भर मे गाधी की सेना।
वलि देकर भी वली ! स्नेह का यह मृदु-व्रत साधो रे,
मन्दिर और मस्जिद, दोनो पर एक तार बाधो रे।
समर शेप है, नही पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ है, समय लिखेगा उसका भी अपराध।

रमानाथ अवस्थी

गीत

चन्द्रमा की चांदनी से भी नरम
और रवि के भाल से ज्यादा गरम
है नहीं कुछ और केवल प्यार है

ढूँढने को मैं अमृतमय स्वर नया
सिन्धु की गहराइयों में भी गया
मृत्यु भी मुझको मिली थी राह पर
देख मुझको रह गई थी आह भर

मृत्यु से जिसका नहीं कुछ वास्ता
मुश्किलों को जो दिखाता रास्ता
वह नहीं कुछ और केवल प्यार है

जीतने को जब चला संसार में
और पहुँचा जब प्रलय के द्वार में
बह रही थी रक्त की धारा वहाँ
थे नहाते अनगिनत मुर्दे जहाँ

रक्त की धारा बनी जल, छू जिसे
और मुर्दों ने कहा जीवन जिसे
वह नहीं कुछ और केवल प्यार है

मन हुआ मेरा कि ईश्वर से कहूँ
दूर तुमसे और कितने दिन रहूँ
देखकर मुझको हँसी लाचारियाँ
और दुनियाँ ने बजाई तालियाँ

पत्थरों को जो बनाता देवता
जानती दुनियाँ नहीं जिसका पता
वह नहीं कुछ और केवल प्यार है

काल से मैंने कहा थम जा जरा
बात सुन मेरी दिया वह मुस्करा
मेघ से मैंने कहा रोना नहीं
वह लगा कहने कि यह होना नहीं

काल भी है चूमता जिसके चरण
मेघ जिसके वास्ते करता रुदन
वह नहीं कुछ और केवल प्यार है

रामावतार त्यागी

मेरा मन

जैसे कोई बनजारा लुट जाये,
ऐसा खोया-खोया है मेरा मन !
मेरे मन की सुनसान नगरिया में,
अब उन्मादों की भीड़ नहीं जुडती,
यह जीवन ऐसे तट पर ठहरा है,
कोई नैया जिस ओर नहीं मुडती;

धरती का आगन गीला-गीला है,
जैसे वर्षो रोया है मेरा मन।

उसकी खुशियों की माँग सजाता हूँ,
जिसने मेरा उल्लास चुराया है,
ये गीत उसीके कारण लिखता हूँ,
जिसने मुझको रोना सिखलाया है;

जीवन भर अब न कभी मैला होगा,
दुख ने ऐसा धोया है मेरा मन !

उड़ना था स्वप्न विहंगम ही तो थे,
लेकिन मैं उनका मोह न छोड़ूँगा,
मेरे मन का जिस-जिस से नाता है,
मर जाऊँगा सम्बन्ध न तोड़ूँगा,

ऐसे कोलाहल में भी जो चुप है,
ऐसा बेसुध सोया है मेरा मन !

दुनिया से मन ऐसा घबराया है,
पथ पास सितारे भी भय खाता है,
इसकी कोई ऐसी मजबूरी है,
मैं चुप रहता हूँ, मन गुमसुम गाता है,

रामकुमार चतुर्वेदी

पुराने पत्र

ये पुराने पत्र भी मन को बड़ा संतोष देते हैं!
खोल देते हैं मुँदे-से पृष्ठ जीवन के,
धूल की परतें हटाकर जोश देते हैं!
जोश—दुनियाँ से निरंतर जूझने का,
जिस तरह जूझा किया बीते क्षणों में!
जोश—विश के बीच अमृत खोजने का,
जिस तरह खोजा किया बीते दिनों में!

हर पुराना पत्र सौ-सौ यादगारों का पिटारा खोलता है!
मीत कोई दूर का, बिछुड़ा हुआ-सा,
पास आता है,

लिपटता, बोलता है !
कान में कुछ फुसफुसाता है,
हृदय का भेद कोई खोलता है !

हर पुराना पत्र है इतिहास आँसू का हँसी का !
चाँदनी की झिलमिलाहट, या अँधेरे की घड़ी का !
आस का, विश्वास का, या आदमी की बेवसी का !

ये पुराने पत्र जीवन के सफर के
मील के पत्थर समझलो !
मर चुका जो भाग जीवन का
उसी के चिन्ह से अक्षर समझलो !
'आप' 'तुम' या 'तू'
इन्हीं सम्बोधनों ने स्नेह का आँचल बुना है !
स्नेह यह समझे नहीं तो
क्या लिखा है ? क्या पढ़ा है ? क्या गुना है ?

ये पुराने पत्र !
जैसे स्नेह के पौधे बहुत दिन से बिना सीचे पड़े हों !
काल जिनके फूल-फल सब चुन गया है,
इन अभागों को भला अब कौन सीचे ?
रीति यह संसार की सदियों पुरानी—
सीचनें वाले नये पौधे हमेशा सीचते हैं !

इन पुरानी पातियों का क्या करूं फिर ?
एक दिन, जब मैं न होऊंगा जगत में,
मोल क्या होगा भला इन पातियों का ?
(चार आने सेर भी लेगा न कोई
ढेर रद्दी का पुराना !)
क्या करूं फिर ?
क्या जलादूँ पातियां ये ?
जिन्दगी के गीत की सौ-सौ धुनें जिसमे छिपी हैं !
किन्तु यह क्या !
भावना क्यो काँपती है ?
आग की लौ दूर ही क्यो हाँफती है ?
फूंक दूँ यह स्वर्ग ?
लेकिन सोचलूँ फिर !
भस्म इसकी और भी मँहगी पड़ेगी !

तब ?
जलाऊंगा नही मैं पातियाँ ये !
जिन्दगी भर की सँजोई थातियाँ ये !
साथ ही मेरी चिता के ये जलेंगी !

रामानंद 'दोषी'

गगन की माग में

गगन की माग में सिंदूर जैसे पुर गये बादल,
किसी का आज लहराया हवा में सुरमई आंचल

यही बादल किसी के प्यार का संदेश ले आये,
यही पाती पिया परदेस वाले की भुला आये,
सिगरती है कही दुलहन, धुला जाता कही काजल
गगन की माग मे सिंदूर जैसे पुर गये बादल,

किसी ने चंग पर दी थाप, कोई गा उठा रसिया,
किसी का दूर से आया नही चितचोर मनवसिया,

डगर सूनी किसी की है, किसी की जुड गई महफिल
गगन की माग में सिंदूर जैसे पुर गये बादर

सितारों की गली में आज चंदा की नही हलचल,
पराया-सा सिमट कर ओट ही बैठा रहा पागल,
किसी तट कूजती बन्शी, रुनझुनी है कही पायल,
गगन की माँग में सिंदूर जैसे पुर गये बादल,

जरा कुछ और बहकी-सी वही मदहोश पुरवाई,
उजाली गोट बादल की किनारी पर उभर आई,
बिछायेगी धरा पर चाँद की दुलहन अभी मखमल,
गगन की माँग में सिंदूर जैसे पुर गये बादल,

रमई काका

(बहुरुपियापन)

चढ़्यो बहुत ऊँचे मुला बड़े बहुरपिया ही
दिन मां बिलात बने राति के हौ रसिया
रोजु रोजु और और धारन करत रुपु,
यही भेन बनि पाया कोहू के बिससिया ॥
कबहूँ समाजवादी टोपी अस लाल भयो,
कबौ सेत खादी धरि बन्यो कांगरेसिया
अष्टिमी क संघिन के बनि गयो दिया अस,
द्वीज कम्यूनिष्टन के बनि गयो हँसिया

(विष्मता)

चढ़वो आसमान माँ समान डीठि पायो नहीं,
कहूँ सुख कहूँ दुख दीज्यो प्रभुताई ते।
काहू का अकास ते ही अमरित नाये देत,
कोहू का अँगारा बरसावत जोन्हाई ते।
राजा अन्धकार के हौ करी तुम चहै जौनु,
अपने कलाम कीन्ह्यो अपनी बढ़ाई ते।
तुम ही गगन बीच तगड़े परत जात,
और सब दूभर मे तुम्हरी मोटाई ते ॥

(उत्थान-पतन)

कबौ बनि हंस चुनौ मोती नखतन के,
औ आनन्द हौ केतू नभ-मानस बिहार का।

कबौ मुनि पतिनी के सत कां डिगावै बर,

मुरगा बनें ह हौ तुम मुनि के दुआर का ॥

कबों चढ़ौ ऊपर औ निचे हौ गिरत कऊौ।

तुमही बताओ गुनु . नीक हे तुम्हार का।

कबहूँ कोहू के हरे झण्डा पर बैठि गयो,

कवह वने हो बीड़ी बन्डल के मारका ॥

(कुशासन)

एहो निसापति ऐस सासनु तुम्हार है कि,

गुनसील कवँल पे संकट महान माँ '

जेतने तुम्हार ताल मेली हे सनेही मीत,

कुमुद कुमुदनी हैं फूली अभिमान माँ।

भेड़हा सिहार भरे लेत हैं भँभारी निज,

गीदड़ उड़ान भरैं अब तो गुमान मां।

चकई चकोर चुनैं चिनगी विचारे महँ,

तुम्हारे सहारे चड़े लल्लू आसमान माँ।

राजेन्द्र शर्मा

वासना के हँस

ओ वासना के हंस !
तज पिकवयनियों का देश,
उनका वेश, रूप, विलास—
शत-शत चुम्बकों की श्वास,
सूर्य सदृश प्रकाश,
पर परिणाम में तम गहन,
गहरा अंधकार !
ऐसा——
जिसमें खो गया है विनाश,
जागरण का पल,

निर्माण को अँगड़ाइयाँ, ऊषा सुवेला !
उड़ कहीं तू दूर,
नभ का भी कही है पूर;
छू तू छोर, गति का अन्त
पाले शून्य का विस्तार।
भेद-भेद अभेद,
करदे सकल भेद अभेद,
तुझ में अमित मन का वेग,
पथ ? पवन परम प्रशस्त
निर्मल, स्वच्छ औ' विश्वस्त !
स्निग्ध तरल उड़ान,
किंचित नही अम्लान—
तन, मन, प्राण;
सब कुछ शुभ्र निर्झर धार
पुंज प्रकाश का साम्राज्य—
चहुँ दिशि, पूर्व-पश्चिम पार
दिखती जब दिशा निस्सीम,
सब कुछ है ससीम असीम—
सब कुछ एक ही आकार !
सारा भोग, वैभव, रास,
सारा काल, भूत-भविष्य—

उद्गम-अन्त का भी अन्त;
पीछे छूट जाय समस्त
साधन-वह्नि में व्यलोक
मद औ' अहम् रज अवशेष !
केवल "निष्कल" ही शेष,
तेरा रूप, निज स्वरूप
दिव्य परम अनूप,
महत् और अति सूक्ष्म
दुर्गम सहज ही उपलब्ध
उड तू दिव्य ओं, तेज अंश !
मेरी वासना के हंस !!

रमा कान्त "कान्त"

गीत

स्वप्न को अब नयन में झुलाओ नहीं,
प्रात की नव किरण गीत गाने लगी।

किसी देश की गंध को ओढ़कर
ले संदेशा किसी का पवन आ गया
कली को महकती जवानी मिली, ओ
चमन पर गुलाबी वरन छा गया
अब अंधेरा हृदय में सुलाओ नहीं;
भौंर की रानियां गुनगुनाने लगी।

स्वप्न को अब नयन में झुलाओ नही
प्रात की नव किरण गीत गाने लगी।

रात के प्रिय मिलन से उठी प्रात जो
गाल पर लाज की लालिमा आ गई
गगन मे भवन के सजे द्वार पर
मोहनी स्वर्ण-सी पीलिमा छा गई
अब अंधेरा हृदय में सुलाओ नही
ज्योति की नर्तकी मुस्कराने लगी

स्वप्न को अब नयन मे झुलाओ नही
प्रात की नव किरण गीत गाने लगी।

रूप के इस चमन मे नया छन्द ले
प्यास की कोकिला फिर "कूहू" बोलती
रात में जो सुनी राधिका की कथा
आज उसके नये भेद को खोलती
दर्द की अब दवाई पिलाओ नही
आज मुझको नज़र राह आने लगी

ललित गोस्वामी

<u>गीत</u>

विन्दु मे सिन्धु का वास हे इसलिये–
यह मिलन का निमिप है युगो से बडा ।

कह रही कूक कर आम पर कोकिल–
"बौर क्या आगया ? मन उठा खिलखिला,
बीत पतझाड के शून्य से दिन गये,
पूर्ण जीवन मिला, पूर्ण यौवन मिला,
हर मुकुल एक मधुमास है इसलिये–
यह मिलन का निमिप है युगो से बडा" ॥

देख शशि-बिम्ब को जो विमोहित हुई,
उस लहर की कहां साध सीमित हुई?
उड़ चलीं स्वप्न के. पंख पर व्योम को,
बन गई एक गाथा, प्रकाशित हुई—
व्याप्त रस में— महारास है इसलिये—
यह मिलन का निमिष है युगों से बड़ा ।।

गा रहा वह शलभ गीत निश्शंक है,
ज्वाल जिसके लिये हेम-पर्य्यंक है,—
"सो रहा मैं सदा जागने के लिये,
लक्ष्य मेरा—अमर ज्योति का अंक है;
नाश–निर्माण-आभास है इसलिये—
यह मिलन का निमिष है युगों से बड़ा ।।

क्या कहा कल्पना? कल्पना ही सही,
सिद्धि के स्वप्न की साधना ही सही,
तर्क मय सृष्टि की रस-रहित दृष्टि में—
भक्त-मन की सरल भावना ही सही,
प्रेम का श्वास,—विश्वास है इसलिये—
यह मिलन का निमिष है युगों से बड़ा ।।

———

वीरेन्द्र मिश्र

लिखता जा रहा हूँ।

हो रहे है सब तरफ से आज मुझ पर विश्व के आघात,
लिखता जा रहा हूँ।
कौन समझे गीत वे जिसको हृदय के रक्त से दिन-रात-
लिखता जा रहा हूँ।
लग रहा ऐसा कि नभ के पास भी मस्तिक है,
पर मन नही है,
चाँद सूरज गीत सुनने को किरण-रथ रोक दें,
ऐसा अनोखा क्षण नही है,
जो झकोरा भी हवा का हाँफता-सा जा रहा है,
उसको दिशाओं से गरज है,
जो न सुनती दूसरों की, उस छटा के गीत की भीतो अलग
अपनी तरज है,

इस तरह, दूरी गगन में और मुझ में बढ़ रही यह बात—
लिखता जा रहा हूँ।

गीत की अपनी चही में, विश्व के वातावरण का हो रहा
आयात औ, निर्यात, लिखता जा रहा हूँ।

पेड़ बढ़ने में लगा है, फूल खिलने में, शिकारी मृग अपनी-
ताक में है,

गन्ध बौराई चली है, पात पर शबनम ढुली है,
ओस मेरी आँख में है:
तमतमाती धूप भी संघर्ष के आकाश में भारी तपस्या-
कर रही है,

और छाया कि न पूछो जो कि अगणित बार क्षण में,
जी रही है, मर रही है,

इस तरह कोई न कोई काम अपनी व्यवस्तता का है-
सभी के साथ,
लिखता जा रहा हूँ।

पीर की नदिया-किनारे, घाट पर दृग के भारा जो नीर-
उससे धो रहा हूँ,
आज मन के हाथ लिखता जा रहा हूँ

जूझती है वायु तरणी से कि तरणी जल-लहरियों से,-
लहरियाँ दीर्घ तट से,

उठ रहे हैं, गिर रहे हैं, शोर करते ज्वार-भाटे फूटते मानो-
लहर के पाप घट से,
और मेरी जिन्दगी का गम-भरा संगीत, खुद से डूब कर-
वे सुध हुआ है,
नाव मेरे गीत के तूफान से टकरा रही, पर मागती-
किस से दुआ है,
इस तरह सब ओर है सघर्प का विकराल झझावत
लिखता जा रहा हूँ ।
काटती मझधार नौका व्यंर्ग करता है सितारा व्योम-
का अवदात,
लिखता जा रहा हूँ ।
हो चुका घायल बहुत, जब गीत के इस प्राण-पंथी को-
मिले पथ गीर, जो घायल स्वयं है,
दूसरा जब हो मुसीबत में, कहो मत पीर खुद की,-
हाँ यही प्रचलित नियम है,
मजिलो तक जब पहुँच होगी मिलेगा सुख न इतना, है-
कि जितना दुख डगर में,
क्योंकि लापरवाह है परवाह से मेरी जगत, सारी-
प्रकृति धुधले पहर मे,
इस तरह मैं हूँ अकेला गीत-रचनाकार, लेकर आज-
जीवन गल्प की आशा-भरी सौगात

लिखता जा रहा हूँ।

सिर्फ इस उम्मीद पर, होगी कभी तो नेह की जीवन-

भरी बरसात,

लिखता जा रहा हूँ।

है बिछी शतरंज जीवन की, लगी संघर्ष की जब शह,-

हुई तब कल्पना की मात

लिखता जा रहा हूँ।

जय-निनादों में समय के जा रही है कौन सी बारात,

लिखता जा रहा हूँ।

विद्यावती मिश्र

नये गीत

आ-आ कर मुझ से नया वर्ष कहता है
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ !

अब तक तो तुमने गाये गीत पुराने
ज्यादा से ज्यादा नूतन रंग चढ़ाया,
कुछ और किया तो अलंकार का थोड़ा
कर दिया मुलम्मा, अभिनव साज सजाया,
सभव है कुछ ने नया इसे माना हो
यह भी सभव है कुछ को हो यह भाया
पर अब तो मेरे भावों की मिट्टी को
मत वाह-वाह के आभूषण पहनाओ !
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ

है साधारण-सी बात कि हृदय टटोलो
हो जाय अनावृत सारा व्यर्थ दिखावा,
केवल रह जायें संघर्षो की ज्वाला
जो रखे सुरक्षित मानवता का लावा,
है स्वार्थ-मोह की राख वुझा कब पाती
नयनों का जल दे पाता नही भुलावा,
स्वर सिद्ध और युग कवि वनने के पहले
अपने को तप कर कंचन स्वयं वनाओ !
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ !

प्रात. विहग के गीत सदैव नये हे
हैं नयी सदा संध्या-नीड़ो की भापा
है आत्म-प्रेरणा स्रोत सहजता गति है
चेतनता देती अन्तर की जिज्ञासा,
यह वह स्वर है जो मानव मुख से सुनने
को इस जगती का कण-कण कब से प्यासा,
इस निर्जन को मरुथल की तृपा वुझाने
वन भव्य भगीरथ सुरसरि भू पर लाओ !
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ !!

परिवर्तन- प्रत्यावर्तन काल-विपिन का
तुम देख रहे हो वे-सुध से अनजाने
तुम खोज नही पाते हो फिर भी इनमें
अपने मन के प्रतिविंव पूर्व पहचाने,

संभवतः शाश्वत हो न इसी से पाते
यह आत्म ख्याति-लिप्सा से रचे तराने,
सागर की लहरों पर बिजली की तूली
से अनहद के दो-चार शब्द लिख जाओ
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ !!

वह लिखो कि जो हो धन्य स्वयं बन करके
युग-युग तक पूजित मानवता की थाती
दे करुणा को उल्लास कि जो विरहिन को
दे गयी रामगिरि वासी प्रिय की पाती
आओ वीणा के भीण व्यग्र स्वन कंपित
है कुरुक्षेत्र की जयश्री तुम्हे बुलाती
तुम अपना पावन पांच जन्म फिर फूँकों
विश्वास, न्याय, समता का स्वर अपनाओ
यदि गाना हो तो गीत नये कुछ गाओ !!

विनोद शर्मा

गीत

कौन तुम अनजान !
प्राणों में समाए जा रही हो।

मिलन के क्षण-सी मदिर चितवन तुम्हारी,
आज मेरी चेतना की सुध चुराकर,
छागई अनुराग-सी, मुझपर निराली —
एक मीठी चाह-सी उर में उठाकर।

कौन तुम छविमान !

प्राणों को लुभाए जारही हो।

कौन तुम अनजान !

प्राणो में समाए जा रही हो।

चादनी के फूल इस पथ पर बिछे है।
पास आओ, दूर से मत यों निहारो !
मैं तुम्हारे रूप को आसक्ति दूंगा,
तुम मुझे भुजपाश में लेकर सँवारो।

प्यास का तूफान !

प्राणो में जगाए जा रही हो।

कौन तुम अनजान !

प्राणो में समाए जा रही हो।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

मैं अकेला और पानी बरसता है

पीत-पनिहारिन गई लूटी कहीं है
गगन की गगरी भरी फूटी कहीं है
एक हफ्ते से झड़ी टूटी नहीं है
संगनी फिर यश की छूटी कहीं है

फिर किसी अलकापुरी के शून्य नभ में
तारकों का स्वप्न रह-रह सिहरता है
मैं अकेला और पानी बरसता है।

मोर काम-विभोर गाने लगा गाना
झिल्लियों ने फिर नया छेड़ा तराना
निर्झरों की केलि का भी क्या ठिकाना
सरि-सरोवर में उमंगों का उठाना

मुखर हरियाली धरा पर छा गई जो,
यह तुम्हारे ही हृदय की सरसता है !
मैं अकेला और पानी बरसता है।

रिमझिमाती-रात मन का गुनगुनाना
हरहराते पात, तन का थरथराना
मैं बनाऊँ भी भला अब क्या बहाना
भेद पी की कामना का आज जाना

क्यों युगों से प्यास का उल्लास साधे,
भरे सावन में पपीहा तरसता है !
मैं अकेला और पानी बरसता है।

शम्भुनाथ सिंह

यह और यह

खिड़की का द्वार खोल चूमो आकाश !
बाँहों में भरो बन्धु किरणें, वातास !
दूरागत नीली गहराई की गूँज
कमरे मे भरो कि बहरेपन की प्यास
बुझे; आँख मल देखो नीचे का स्वर्ग—
धूप की परी—सी वह तैरं रही घास !
अपने ही छवि-सागर बीच अनादयन्त
डूब रही धरती।...
पर यह कैसा हास—

लोलुप सा ? यह कैसी कातर चीत्कार ?
चीर-हरण का कोई करता अभ्यास !
एक शब्दवाण, एक नयन-अग्निवाण
वातायन से छूटें और अट्टहास।
थरथर हो व्योम थमक उठे किरण-यान;
हो नव अभियान ..

यहा आ मेरे पास
देखो वह धरती का खुला हुआ केश,
देखो वह नग्न वेश, वह लम्पट रास।

शम्भुनाथ 'शेष'

शरत्पूर्णिमा

शरद पूर्णिमा आई, आकर चली गई,
नयन तरसने रहे किसी के दर्शन को !

ज्योत्स्ना-पुलकित वेला में रजनीगन्धा,
सहज भाव से आत्म-स्नेह लुटाती थी;
कहीं रात की रानी, प्रिय, अमराई के,
कण-कण में अभिनव उल्लास जगाती थी;

गाती थी यों ज्योति-स्वरो में विभावरी,
भेंट करे ज्यो प्रकृति सत्य चिर चेतन को !

धरती पर आँखो से ओझल थे जुगनू,
अम्बर में कुछ तारो की थी प्रभा नई !
लास्य-निहत लहरे थी सागर मे व्याकुल,
मानस में अभिलाषा की सिहरन पहली ।

मिलन-सुलभ ऊष्मा-सी अनुभव हुई स्वतः
प्राण ललकने लगे रूप के बन्धन को ।

कितना लम्बा मार्ग छोड आये पीछे,
बँशी की ध्वनि कही शून्य में लीन हुई ।
कितना आगे बढ आये हम जीवन में,
जीवन-पथ की रेखा भी अति क्षीण हुई !

यह अनुभूति उभरकर शाश्वत गीत बनी,
कौन समझ पायेगा अन्तस् गायन को !

जब पीछे की ओर निगाहे जाती है,
एक विगत अनुभव हिय को पुलकाता है;
यो लगता है जैसे धूमिल अम्बर में,
पूनम का प्रिय चाँद मधुर मुसकाता है;

काश, कही वे क्षण,क्षण-भर को लौट सकें,
सस्मित रूप सुलभ हो तव युग लोचन को ।

—०—

शिवशंकर वशिष्ठ

पत्थरों के सख्त सीने को तराश
वह चला यह आदमी का गीत है,
हार कर जो हारती खुद को नहीं,
उस जवानी की हमेशा जीत है।

जब सितारों ने गगन आबाद कर
कहा चुपके से मनुज के कान में,
'आज से राजा हमी सुरलोक के,
तुम सदा झुकते रहो सम्मान में।'
तब हँसा मानव अतल को चीरती,
वह हँसी गूँजी कहीं पाताल में,
आदमी के मैल का जो दाग था,
चांद बन चमका गगन के भाल में,

ग्रौर तब इन्सान ने बस यह कहा,
'ऐ सितारो, गर्व करना भूल है,
तुम जिसे आकाश कहते हो सुनो,
शून्य है यह इस धरा की धूल है;
धूल जमकर बन गई आकाश है,
मिल गई जिससे कि तुमको राह है,
किन्तु इतराना न इस पर भूल कर,
जल रही इसमें मनुज की दाह है,
इस जलन के संग अचला चल रही,
इस जलन से पल रहा आकाश है,
यह जलन गति है मनुज की शक्ति है,
यह न हो तो सृष्टि मुर्दा लाश है,
चल रहा है, विश्व रुकना है मना,
गति मनुज की है, मनुज गतिवान है–
ठोकरों से पाँव की मंजिल कुचल,
सतत बढना आदमी की रीत है।

पत्थरों के सख्त सीने को तराश,
वह चला यह आदमी का गीत है,
हार कर जो हारती खुद को नहो,
उस जवानी की हमेशा जीत है,

चल पड़ा इन्सान सीना तान जब
भाग कर भगवान पत्थर में छिपा,

और बुत बनते गये सब देवता,

शंख-घण्टों का मरण से घर लिया;

आरती की ज्योति थी या ज्वाल थी,

मौन हो पाषण बरबस झुक गया,

और झुकते को झुकाना पाप है,

सोच कर यह तब मनुज भी रुक गया,

किन्तु पत्थर के हृदय की कालिमा,

साफ हो पाई नहीं फिर छल किया;

मन्दिरों के सीखचों से झांक कर,

भक्ति को षडयन्त्र का कटु फल दिया,

और प्रलयंकर बना इन्सान तब—

छल नहीं, यह तो हमारी हार है,

जड़ करे उपहास मानव शक्ति का,

पत्थरों से फूट निकली धार है,

क्रुद्ध नयनों से लखा आकाश तब,

रो पड़ा चन्दा सितारों के सहित,

यह हठीले है, व्यथा के दाग हैं,

इन सितारों का न तुम करना अहित,

आ गई इन्सान को तब भी दया,

पत्थरों को रूप दे चमक दिया,

चांदनी के प्यार से तारे भरे,

पत्थरों को प्राण देती प्रीत है।

पत्थरों के सख्त सीने को तराश,
बह चला यह आदमी का गीत है।
हार कर जो हारती खुद को नहीं,
उस जवानी की हमेशा जीत है।

नये यौवन की उमंगों से भरा,
यह अमर मानव युगों को चूमता,
ठोकरे खाकर गिरा औ फिर उठा,
मस्तियों के साथ मस्तक झूमता,
डूब जाता है नयन की बूँद में, किन्तु
उभरा है गहन जलधार से;
जिन्दगी से नेह है इसका अमित,
जिन्दगी लाता नियति को फोड़ कर,
मृत्यु भी आती अगर दिल खोलकर,
यह गले लेता लगा सब छोड़ कर,
है यही इन्सान जिसकी भक्ति ने,
जड़ प्रकृति को भी दिया सम्मान है,
रीझ कर पाषाण के सौन्दर्य पर,
कह दिया क्या कान्तिमय भगवान है।
है मनुज मासूम, भोला है बहुत,
क्यों कि सच्चाई सदा नादान है,
दुश्मनों को जीत कर भी हारता,
इस लिये ही सदा गौरववान है;
कल्पना को खीच कर अज्ञात से,
कर रहा निर्माण जीवन नीड़ का,
खुद बनाता है मिटाता है स्वयं,
बस इसी क्रम का अमर संगीत है।
पत्थरों के सख्त सीने को तराश,
बह चला यह आदमी का गीत है,
हार कर जो हारती खुद को नहीं,
उस जवानी की हमेशा जीत है।

शान्तिस्वरूप "कुसुम"

गीत

तुम नीलम सी बरसात, तुम्हें अपनाने को मन करता है

तुम आती हो पल दो पल को
मस्ती आ जाया करती है
सांसों में सिहरन होती है
आरा शरमाया करती है
कैसे कहदूं कुछ शेष नहीं इस पट परिवर्तन से पहले
तुम अरुण अरुण जलजात, तुम्हें दुलराने को मन करता है।

तुम नीलम-सी बरसात तुम्हें, अपनाने को मन करता है

है तेज कल्पनाओं की गति
प्रतिपल नूतन सा लगता है
आशाओं-अभिलाषाओं में
कुछ परिवर्तन-सा लगता है
गीतों की भाषा परिभाषा में क्या समझूँ, मैं क्या जानूँ,
तुम अस्फुट-स्वर अवदात, अधर पर लाने को मन करता है,
तुम नीलम-सी बरसात तुम्हें, अपनाने को मन करता है

हरदम खुशियों का आलम-सा
बहती मधुभीगी पुरवाई
गादान प्रसूनों के मेले
कलियों की बजती शहनाई
यह बात नही मुसकानों से परिचय कम हो फिर भी सुन्दरि !
तुम सपनों की सौगात, नयन उलझाने को मन करता है ।
तुम नीलम-सी बरसात तुम्हे, अपनाने को मन करता है

सुधियों की गाफिल लहरों पर
गुमराह जवानी गाती है
आगत के स्वर्णिम कूलों पर
चाहों के दीप जगाती है
यह मिलन-कहानी युग-युग की कैसे बिसरादूँ याद करूं
तुम सो बातों की बात, सदा दुहराने को मन करता है ।
तुम नीलम-सी बरसात तुम्हे, अपनाने को मन करता है

—

सुमित्रानंदन पंत

आह्वान

आओ स्मृति-पथ से आओ !
मधु भृंगों का स्वर्ण गुंजरण प्राणों में भर गाओ !

अंतर का क्षण क्रंदन हो लय,
तुममे रुद्ध अहंता तनमय !
मेघों के घन गुंठन से हंस रश्मि तीर बरसाओ !

जगे हृदय में खोया मानव,
जगे पुरातन मे सोया नव,
शप्र मरुतों का विद्युत दर्शन तन-मन में भर जाओ !

हे अकूल, हे निस्तल, दुस्तर,
हे स्वर्णिम वाड़व के सागर,
नव ज्वालाओं की लहरों में उर को अतल डुबाओ।

मधु सौरभ रंग पावक के घन,
गन्ध स्पर्श रस से अति चेतन,
शत सुरधनुओं मे लिपटे हे ! वज्र संदेश सुनाओ !

सुमित्राकुमारी सिन्हा

गीत

साधना के दिवस मेरे कामना की रैन !

कर रही डगमग पगो से अडिग पथ की माप,
अनमिले वरदान को मैं, खोजती ले शाप,
लगन-राधा लक्ष-मोहन—हित-हृदय का क्षीर,
यत्न कर से मथ रही नवनीत, भर दृग नीर,
और चलते जा रहे हैं भावना के सैन !
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन !

एक दिन दुख पास मेरे आ गया घर छोड़,
और छिन में, युगों का बल, रम गया संग जोड़,
बाट तब से देखती, आये भटक सुख-मीत,
औ, इसे बहला रही हूँ दे मधुर उर प्रीत,
खीझ रुठूँ, रीझ बोलूँ याचना के बैन !
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन !

अब यही क्रम, रात की मसि मे स्वरो को बोर,
आस औ, विश्वास के गा गीत कर दूँ भोर,
गीत, जिसमें तृप्ति की हो छटपटाती प्यास;
और जिसकी नींव पर रचदे भवन इतिहास;
कल खिले, बन फूल, मुँद आराधना में नैन !
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन !

सुरेन्द्र तिवारी

गीत

अब मुझसे परिचय न करो कोई
फिर से मेरा सुख न हरो कोई

यों ही मत मुझको अपना मानों
मेरे मन को भी तो पहचानों
जीवन में परिचय के दो क्षण हैं
शेष यहाँ चलने के साधन हैं

पावों को बोझिल न करो कोई
शीतल वाहों में न भरो कोई

काल उमर पर हँसता जाता है
मन का बन्धन कसता जाता है
तन पर तो श्वासों का बन्धन है
लेकिन पानी-सा बहता मन है

मन को फिर बन्दी न करो कोई
पानी नयनों में न भरो कोई

बादल-सी हो जिसकी परछाई
सागर-सी हो जिसकी गहराई
दुख-सुख को सागर-सा पी जाये
जीवन भर जो साथ चले आये

यों मुझ पर छाया न करो कोई
कुछ दिन को आया न करो कोई

सरस्वती कुमार "दीपक"

गीत

तुम्हारे नयनों का आकाश,
दिखाता है अनगिनती रूप,
बनाता एक घड़ी में दास,
बनाता एक घड़ी में भूप ।

कभी बन घन का मग्न निकेत,
दिखाता सतरंगी मुसकान,
कभी कनखी-से देता श्राप,
कभी इन्गित करता वरदान,
बधता पल में उर के पास,
तोड़ता क्षण में स्वप्न अनूप,
तुम्हारे नयनों का आकाश ।

कभी बन जाता नीलम पात्र,
कराता प्राणों को मधुपान,
कभी बन जाता परम अभिन्न,
कभी बन जाता है अनजान,
करूँ कैसे इस पर विश्वास,
निरंतर छलता हुआ स्वरूप,
तुम्हारे नयनों का आकाश।

कभी बन चित्रपटी अनुरूप,
दिखाता है छवियाँ अनमोल,
कभी धर निष्ठुर झंझा रूप,
हृदय के मोती लेता रोल,
निराला है नयनों का रास,
कहूँ कैसे मोहन अनुरूप,
तुम्हारे नयनों का आकाश।